सप्तदशोऽध्यायः

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—मरुतः। छन्दः—भुरिगतिशक्करी। स्वरः—पञ्चमः॥

मेधातिथि का खान-पान

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पयः। तां नऽइषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअश्मँस्ते क्षुन् मयि तऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥१॥

१. हे **संरराणाः**=(संरममाणाः) आकाश में सम्यक् रमण करते हुए, अर्थात् ठीक समय पर गति करते हुए, अथवा सम्यक् रान्ति=सम्यक् वृष्टि करनेवाले **मरुतः**=वायुओ! (monsoon winds) **अश्मन्**=(अशनवति) सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले इस मेघ में तथा **पर्वते**=पर्वतों पर **शिश्रियाणाम्**=आश्रित—इन पर्वतों पर वृष्टि होकर विविध ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा वहाँ से नदियों के रूप में यह जल बहकर मैदानों में भी अन्न इत्यादि की उत्पत्ति का कारण बनता है। एवं, हमारा सारा अन्न इन मेघों एवं पर्वतों पर ही आश्रित है। इस मेघ व पर्वतों पर आश्रित **ऊर्जम्**=(ऊर्ज बलप्राणनयोः) बल व प्राणशक्ति के बढ़ानेवाले अन्न को **नः**=हमारे लिए दो। २. हे मरुतो! आपसे कराई गई वृष्टि के इन **अद्भ्यः**=जलों से **ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः**=ओषधियों व वनस्पतियों से **पयः**=दूध **अधिसम्भृतम्**=गौ इत्यादि पशुओं में आधिक्येन संभृत होता है। जल पीकर ओषधि-वनस्पतियों का सेवन करके ये गौवें हमारे लिए उत्कृष्ट दूध का पोषण करती हैं। ३. हे **मरुतः**=वायुओ! **ताम्**=उस **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस का **नः**=हमारे लिए **धत्त**=धारण करो। ४. **अश्मन्**=हे भक्षक अग्ने (उ०)! **ते क्षुत् मयि**=तेरे—वैश्वानर अग्नि के रूप में जठर में स्थित होकर भोजन के ठीक पाचन से होनेवाली भूख मुझमें हो, अर्थात् मेरी जठराग्नि ठीक हो और मैं उचित भूख को अनुभव करूँ। हे **अश्मन्**=सब भोजनों को प्राप्त करानेवाले (अशनवति) मेघ **ते ऊर्क्**=तेरा यह शक्तिप्रद अन्न मुझमें हो। ५. **ते शुक्**=तेरा शोक व सन्ताप, अन्न के अधिक खाजाने से होनेवाला कष्ट **तं ऋच्छतु**=उसी को प्राप्त हो जो सबके साथ द्वेष करता रहता है और परिणामतः हम सब भी **यं द्विष्मः**=जिसे अप्रीतिकर समझते हैं। इस वैर-रुचि पुरुष को ही अन्न सन्तापकारी हो।

भावार्थ—१. हम वृष्टि से उत्पन्न अन्न व रस को प्राप्त करें। २. हमें इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौवों का दूध प्राप्त हो। ३. हमें सदा उचित भूख लगे। ४. अन्न हमारे लिए सन्तापकारी न हों।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्विकृतिः। स्वरः—मध्यमः॥

यज्ञ

इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके॥२॥

१. गत मन्त्र में वृष्टि से होनेवाले 'अन्न-रस का' उल्लेख था। वस्तुतः 'पर्जन्यादन्नसम्भवः'

सब अन्न का सम्भव पर्जन्य से ही होता है, परन्तु यह पर्जन्य 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' इस वाक्य के अनुसार यज्ञ से होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में इस यज्ञ के पालकत्व का प्रतिपादन करते हुए मेधातिथि के मुख से प्रार्थना कराते हैं कि हे **अग्ने**=यज्ञादि में विनियुक्त होकर बादलों को जन्म देनेवाले अग्ने! **इमाः**=ये **ये**=इस देह से किये जानेवाले **इष्टकाः**=यज्ञ (यज्+क्त=इष्ट, इष्ट+टाप्) **धेनवः सन्तु**=दुधारू गौवों के समान हमारा पालन करनेवाले हों। वस्तुतः यज्ञ बादलों की उत्पत्ति द्वारा अन्नादि का कारण बनकर सदा हमारा पालन करता है तथा रोगकृमियों के संहार के द्वारा भी यह यज्ञ हमारा रक्षक होता है। २. ये यज्ञ तो मेरे जीवन में निरन्तर चलें, मेरा जीवन ही यज्ञमय हो जाए। **एका च**=यह यज्ञ प्रत्येक प्रातःकाल में एक संख्यावाला होता हुआ भी **दश च**=प्रतिदिन होने से दस संख्यावाला हो, **दश च**=दस संख्यावाला ही क्या **शतं च**=यह सौ संख्यावाला हो। **शतं च**=सौ क्यों? **सहस्रं च**=मेरा जीवन हज़ारों यज्ञों से युक्त हो। **सहस्रं च**=सहस्र ही क्यों? **अयुतं च**=मेरा जीवन दस हज़ार यज्ञोंवाला हो। **अयुतं च नियुतं च**=दस हज़ार यज्ञोंवाला होता हुआ यह मेरा जीवन एक लाख यज्ञोंवाला हो। **नियुतं च प्रयुतं च**=एक लाख से भी अधिक दस लाख इन यज्ञों की संख्या हो। **अर्बुदं च**=ये यज्ञ एक करोड़ हो जाएँ। **न्यर्बुदं च**=दस करोड़ तक इनकी संख्या हो। प्रत्येक घर में होने पर इनकी संख्या दस करोड़ ही क्यों? **समुद्रश्च**=ये यज्ञ अरब संख्या तक पहुँचे, **मध्यं**=दस अरब, तथा **अन्तः च**=खरब तथा **परार्धश्च**=ये यज्ञ तो दस खरब हो जाएँ। ३. मैं तो यह चाहता हूँ कि **अग्ने**=सब यज्ञों के प्रवर्तक प्रभो! **एता में इष्टकाः**=ये मेरे यज्ञ **अमुत्र**=परलोक में **अमुष्मिन् लोके**=उस दूर लोक में भी **धेनवः सन्तु**=मेरा पालन करनेवाले हों। इस लोक में तो ये यज्ञ कल्याण करते ही हैं, ये परलोक में भी कल्याणकारक हों।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को यज्ञमय बनाएँ। यज्ञ इस लोक में सात्त्विक अन्न व नीरोगता देनेवाला होकर कल्याण करता है तथा यज्ञ में निहित त्याग की भावना परलोक में कल्याण करनेवाली होती है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

ऋतवः-ऋतुष्ठाः

ऋ॒तव॑ स्थऽऋता॒वृधऽऋतु॒ष्ठा स्थऽऋता॒वृधः।
घृ॒त॒श्च्युतो॑ मधु॒श्च्युतो॒ वि॒राजो॒ नाम॑ काम॒दुघाऽअक्षी॑यमाणाः॥३॥

१. गत मन्त्र में यज्ञ का वर्णन था। उन यज्ञिय स्वभाववाले पुरुषों से कहते हैं कि **ऋतवः स्थ**=तुम अपने जीवन में बड़ी नियमित गतिवाले बनो (ऋ गतौ)। ऋतुएँ जैसे समय पर आती हैं उसी प्रकार तुम अपने सब कार्य समय पर करनेवाले बनो। २. **ऋतावृधः**=इस ऋत से प्रत्येक कार्य को ठीक समय व ठीक स्थान पर करने से बढ़नेवाले बनो। 'ऋत' तुम्हारी वृद्धि का कारण बने। ३. **ऋतुष्ठाः स्थ**=तुम ऋतुओं में स्थित होओ, अर्थात् तुम्हारा आहार-विहार ऋतुओं के अनुकूल हो तथा **ऋतावृधः**=उस-उस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञों से अथवा समय-समय पर होनेवाले सत्यानुष्ठान से तुम्हारा वर्धन हो। ४. इस ऋतुचर्या के ठीक पालन से तुम **घृतश्च्युतः**=घृत के स्वामी बनो। तुम्हारे मस्तिष्क में ज्ञान-दीप्ति हो। तुम्हारे चेहरे पर स्वाथ्य व ज्ञान की आभा टपकती हो तथा **मधुश्च्युतः**=तुम मधुस्रावी बनो। तुम्हारे व्यवहार में तुम्हारी वाणी से माधुर्य टपकता हो। 'अन्दर ज्ञानाग्नि, बाहर माधुर्यमयी वाणी की शीतलता' ये हो तुम्हारा जीवन। ५. **विराजो नाम**=(विशेषेण राजते, नाम इति प्रसिद्धौ) इस ज्ञान व माधुर्य के कारण तू 'विराज' नाम से प्रसिद्ध हो। अथवा इन्द्रियों को

विशेषरूप से शासित करनेवाले के रूप में तुम्हारी प्रसिद्धि हो। ६. **कामदुघाः**=इन्द्रियों को वश में करके काम्य=चाहने योग्य पदार्थों का ही अपने में प्रपूरण करनेवाले तुम बनो। ७. और इस प्रकार अनिष्ट वस्तुओं के सेवन से दूर रहकर तुम **अक्षीयमाणाः**=कभी क्षीणशक्ति न होवो। जीर्णता का मूल अनिष्ट वस्तुओं का स्वादवश सेवन ही है। स्वाद से ऊपर उठकर हम स्वनाश से भी ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—हमारी गति नियमित हो। यज्ञों से हम शक्तियों का वर्धन करें। अनिष्ट पदार्थों के सेवन से शक्तियों का क्षय न होने दें।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

समुद्र की अवका (रक्षा-शक्ति)

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥४॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जीवन-निर्माण से शरीर का स्वास्थ्य ही नहीं, मनःस्वास्थ्य भी प्राप्त होता है। 'प्रसन्न मन' सर्वोत्तम रक्षण-साधन है। मन के प्रसन्न होने पर रोग भी शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते। 'मनःप्रसाद' मनुष्य को सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त कराता है, अतः प्रभु जीव से कहते हैं हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स+मुद्) सदा प्रसन्नता के साथ रहनेवाले मन की **अवकया**=रक्षाशक्ति से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। यह 'मनःप्रसाद' तुझे सब आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाएगा। २. **पावकः**=मनःप्रसाद के द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। तू अपने जीवन से कभी किसी का अशुभ न कर।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के साधन निम्न हैं—१. मनःप्रसाद के द्वारा अपने को आधि-व्याधियों से बचाना। २. ज्ञान के द्वारा जीवन को पवित्र बनाना। ३. सभी का कल्याण करना।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

हिम का जरायु

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परि व्ययामसि। पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥५॥

१. गत मन्त्र में 'मनःप्रसाद' का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उसके कभी क्षुब्ध न होने का उल्लेख है। प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **हिमस्य**=शीतलता के **जरायुणा**=आवरण से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से आच्छादित करते हैं। थोड़े से मानापमान से तू क्षुब्ध नहीं हो उठता। तुझमें क्रोधाग्नि नहीं भड़क उठती। तू सदा शान्त रहता है। २. इस शीतलता के द्वारा **पावकः**=अपने हृदय को पवित्र करनेवाला तू ३. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याणकर हो। तू मन, वाणी व कर्म से कभी किसी का अशुभ करनेवाला न हो। शिव बनकर ही तू 'शिव' को प्राप्त करेगा।

भावार्थ—१. हम अपने व्यवहार में सदा शान्त रहें। २. पवित्र जीवनवाले हों। ३. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अपां पित्तम्

उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा। अग्नेपित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳशिवं कृधि॥६॥

१. गत मन्त्र की भावना, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के प्रकरण को ही आगे इस रूप में कहते हैं कि **उप**=उस परमेश्वर के समीप रहता हुआ तू **ज्मन्**=पृथिवी में **अवतर**=अवतीर्ण हो। 'ज्मा' पृथिवी को कहते हैं 'जमतेर्गतिकर्मणः'=गत्यर्थक 'जम' धातु से यह शब्द बना है, अतः अभिप्राय यह है कि जब तू इस पृथिवी पर शरीर धारण करे तो 'गतिशील' बनना। गतिशीलता तो तेरा अध्यात्म स्वभाव ही हो। २. **उप**=उपासना करता हुआ तू **वेतसे**=बेंत में **अवतर**=अवतीर्ण हो। वेतस की भाँति तुझमें नम्रता हो, अकड़ न हो। अथवा 'वयति तन्तून् सन्तनोति' यज्ञतन्तु का तू विस्तार करनेवाला हो। क्रियाशील बन, तेरे कर्म यज्ञात्मक हों। इन उत्तम कर्मों से ही तो तू अपनी शक्तियों का भी विस्तार करेगा। ३. **नदीषु**=(नदतेः स्तुतिकर्मणः) विविध नामों के उच्चारण द्वारा प्रभु की स्तवन क्रियाओं में तू **आ**=सर्वथा अवतर, अवतीर्ण हो। कर्मों को करते हुए तुझे प्रभु का विस्मरण न हो जाए। ४. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **अपां पित्तम् असि**=कर्मों का तेज है। क्रियाशीलता ने तुझे तेजस्वी बनाया है। सदा कर्म करने से तेरे सब अङ्गों की शक्ति बढ़ी है। ५. अतः हे **मण्डूकि**=उत्तम गुणों से अपने को मण्डित करनेवाले व्यक्ति! **ताभिः**=उन कर्मों से **आगहि**=तू हमें प्राप्त हो। **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'**=अपने कर्मों से ही प्रभु की अर्चना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। ६. **सः**=वह तू **इमम्**=इस **नः**=हमारे लिए **यज्ञम्**=वेद में प्रतिपादित यज्ञ को, जोकि **पावकवर्णम्**=अग्नि के समान तेजस्वी व **शिवम्**=कल्याणकर है, **कृधि**=कर। यह यज्ञ तुझे तेजस्वी व सुखी करेगा। यज्ञों में निरन्तर प्रवृत्त हुआ तू बुरे कामों से बचा रहेगा, विषय-वासनाओं में न फँसने से तू जहाँ तेजस्वी बनेगा वहाँ औरों का कल्याण सिद्ध करता हुआ अपना भी कल्याण सिद्ध करेगा।

भावार्थ—१. तू गतिशील, नम्र, यज्ञशील व स्तोता बन। २. कर्मों में लगा रहकर तेजस्वी बन। ३. अपने को सद्गुणों से सुभूषित करके कर्मों द्वारा प्रभु को प्राप्त हो। ४. ये यज्ञ तुझे पावकवर्ण व शिव बनाएँगे।

ऋषिः—मेधातिथिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

समुद्र-निवेशनम्

अपामिदं न्ययनꣳसमुद्रस्य निवेशनम्।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥७॥

१. 'गत मन्त्र की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति कैसा बनता है' इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि **अपाम् इदं नि अयनम्**=कर्मों का यह निश्चय से निवास स्थान बना है। यह कभी अकर्मण्य नहीं होता। २. **समुद्रस्य**=(स मुद्) आनन्दयुक्त मन का यह **निवेशनम्**=निश्चय से आयतन बना है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। ३. **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते हेतयः**=(हि to urge) तेरी ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=(तप् दीप्तौ) दीप्त व पवित्र करनेवाली हो, अर्थात् क्रियाशील व प्रसन्न मनवाला बनकर तू प्रभु से प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ४. **पावकः**=अपने जीवन को निःस्वार्थ वृत्ति व लोकहित की भावना के द्वारा पवित्र रखते हुए तू ५. **अस्मभ्यम्**=हमारी (प्रभु) प्राप्ति के लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाला **भव**=बन। तू कभी औरों की हिंसा का कारण न हो। तेरे प्रत्येक कर्म से औरों का भला ही हो।

भावार्थ—१. हम कर्मों के तो निवास-स्थान बन जाएँ। २. सदा प्रसन्न मन का हममें प्रवेश हो। ३. प्रभु-प्राप्त प्रेरणाओं को औरों तक पहुँचानेवाले बनें। ४. पवित्र जीवनवाले

होकर। ५. सभी का कल्याण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—वसुयुः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्रीः। स्वरः—षड्जः॥

मन्द्र-जिह्वा

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया। आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥८॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले! **देव**=दिव्य गुणों को अपनानेवाले! तू २. **रोचिषा**=ज्ञान की दीप्ति के साथ तथा ३. **मन्द्रया जिह्वया**=आनन्दित करनेवाली रस से परिपूर्ण जिह्वा के द्वारा ४. **देवान् आवक्षि**=दिव्य गुणों को प्राप्त करानेवाला बन, **च**=और **यक्षि**=सब प्रजाओं के साथ सङ्गतीकरणवाला हो। ५. उल्लिखित अर्थ में ये बातें स्पष्ट हैं कि (क) एक प्रचारक व नेता सबसे प्रथम अपने जीवन को 'प्रगतिशील' (अग्नि), पवित्र (पावक) व दिव्य (देव) बनाता है। (ख) इसने प्रचारकार्य में तभी प्रवृत्त होना है जब अपनी ज्ञान की दीप्ति को उज्ज्वल कर चुका हो (रोचिषा) तथा वाणी के माधुर्य का इसने सम्पादन किया हो (मन्द्रजिह्वा) प्रचारकार्य में वाणी का माधुर्य अत्यन्त आवश्यक है। (ग) इसने ज्ञानप्रचार के द्वारा प्रजाओं में दिव्य गुणों की वृद्धि का प्रयत्न करना है। (देवान् वक्षि) तथा प्रजाओं के साथ स्वयं मेल का प्रयत्न करना है (यक्षि)। प्रजाओं के पहुँचने की आशा-प्रतीक्षा में अपनी सुदूर कुटी व आश्रम में ही शान्तभाव से नहीं बैठे रहना। यह सभी के जीवनों को उत्तम बनाने की कामनावाला सचमुच 'वसुयु' (उत्तम निवास को चाहनेवाला) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय वही है जो ज्ञान-दीप्त व मधुर वाणीवाला बनकर लोकहित में प्रवृत्त होता है और प्रभु के सन्देश को मधुर शब्दों में उन तक पहुँचाता है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

यज्ञ+हविः

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ऽइहावह। उप यज्ञꣳहविश्च नः ॥९॥

१. गत मन्त्र की भावना को ही अधिक विस्तृत करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील **पावक**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले तथा **दीदिवः**=ज्ञान-ज्योति से देदीप्यमान मेधातिथे! **नः**=हमारा बना हुआ तू, अर्थात् प्रकृति में न फँसा हुआ तू **इह**=इस मानव जीवन में **देवान्**=दिव्य गुणों को **आवह**=समन्तात् प्राप्त करनेवाला बन। २. **च**=और **नः**=हमारा बना हुआ तू **यज्ञं उप**=सदा यज्ञों के समीप होनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञों से कभी दूर न हो। ३. और इस प्रकार **हविः**=तू हविरूप बन जा। अधिक-से-अधिक त्याग करनेवाला बन। (हु दानादनयोः) 'दानपूर्वक अदन' तो तेरा व्रत ही बन जाए। (तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः=त्यागपूर्वक उपभोग कर)—इस उपदेश को तू अपने जीवन में मूर्त्तरूप दे। 'केवलाघो भवति केवलादी'='अकेला खानेवाला पाप ही खाता है' तेरा सिद्धान्त बन जाए।

भावार्थ—प्रभु का प्यारा दिव्य गुणों को अपनाता है, यज्ञशील होता है और अपने जीवन को हविरूप बना देता है, सदा दानपूर्वक यज्ञशेष को ही खानेवाला होता है।

ऋषिः—भारद्वाजः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

भारद्वाज

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुचऽउषसो न भानुना।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रणऽआ यो घृणेन ततृषाणोऽअजरः ॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भारद्वाज' बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में इस भारद्वाज का ही चित्रण करते हुए कहते हैं कि भारद्वाज वह है **यः**=जो **पावकया**=जीवन को पवित्र बनानेवाली **चितयन्त्या**=(चेतयन्त्या) संज्ञान से परिपूर्ण करनेवाली **कृपा**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्ति से **क्षामन्**=इस पृथिवी में, अर्थात् इस शरीर में (पृथिवी शरीरम्) **रुरुच**=इस प्रकार शोभायमान होता है **न**=जैसे **उषसः**=उषःकाल **भानुना**=सूर्य की प्रारम्भिक किरणों से। यह उषःकाल का प्रकाश मनों में पवित्र भावनाओं का सञ्चार करने से 'पावक' है, अन्धकार को दूर करने से 'चेतयन्' है, यह सबको जागने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार भारद्वाज की शक्ति भी पवित्रता व चेतना से युक्त है। २. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **नू**=निश्चय से **एतशस्य रणे**=इन इन्द्रियाश्वों के संग्राम में **यामन्**=जीवनयात्रा के मार्ग में **तूर्वन् न**=हिंसा न करता हुआ चलता है। इन्द्रियाँ विषयों में जाने लगती हैं, यह भारद्वाज उन इन्द्रियों को विषयों में जाने नहीं देता। यही इसका इन्द्रियाश्वों का संग्राम है। इस संग्राम में यह इनको मार लेता है, जीत लेता है। इन्द्रियों को निर्बल नहीं होने देता, परन्तु उनको अपने पर प्रबल भी नहीं होने देता। ३. यह भारद्वाज वह है **यः**=जो **आघृणेन**=समन्तात् ज्ञान की दीप्ति से **ततृषाणः**=अत्यन्त पिपासित होता है, अर्थात् जिसको प्रकृतिविद्या में व आत्मविद्या में सब ओर ही ज्ञान की प्यास है (अपराविद्या व पराविद्या) दोनों में ही अपने ज्ञान को यह बढ़ाने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इन्द्रिय-संग्राम में विजय का रहस्य इस ज्ञान की पिपासा में ही है। ४. इस ज्ञान की प्यास से विषयों से बचकर यह **अजरः**=अजीर्णशक्ति बना रहता है और अपने 'भारद्वाज' नाम को सार्थक करता है।

भावार्थ—१. भारद्वाज पवित्र व ज्ञान-सम्पन्न शक्ति से चमकता है। २. यह इन्द्रिय-संग्राम में विजयी होता है। ३. इसकी ज्ञान की प्यास प्रबल होती है। ४. ज्ञान की प्यास इसे विषयों से बचाकर अजीर्णशक्ति बनाये रखती है।

सूचना—वेद के शब्दों में शक्ति वही प्रशंसनीय है, जिसके साथ पवित्रता व ज्ञान का समन्वय है। 'शरीर में शक्ति, मन में पवित्रता, मस्तिष्क में ज्ञान' ये ही मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाते हैं।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

हरस्-शोचिस्-अर्चिस्

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥११॥

१. पिछले मन्त्र का 'भारद्वाज' अपने जीवन को शक्तिसम्पन्न, पवित्र व ज्ञानमय बनाकर सब वासनाओं का विलोप करने लगता है, इन्द्रिय-संग्राम में जीतता है। वासनाओं का विलोप करने के कारण यह 'लोपा' कहलाता है और वासना-विनाश से ही सदा प्रसन्न रहने के कारण 'मुद्रा' नामवाला होता है, अतः इसका पूरा नाम 'लोपामुद्रा' हो जाता है। इसके जीवन के लिए प्रभु कहते हैं कि २. **ते हरसे**=तेरी इस बुराइयों के हरण की शक्ति के लिए **नमः**=तेरा आदर करते हैं। ३. **शोचिषे**=तेरी इस मानस शुचिता के लिए आदर करते हैं। ४. **ते अर्चिषे नमः अस्तु**=तेरी इस प्रदीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला के लिए आदर हो। **अस्मत्**=हमसे प्राप्त **ते**=तेरी ये **हेतयः**=प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों, अर्थात् तू मुझसे ज्ञान प्राप्त करके इस ज्ञान को औरों तक पहुँचानेवाला बन। ५. **पावकः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाला तू ६. **अस्मभ्यम्**=हमारी प्राप्ति के लिए

शिवः भव=कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—'लोपा-मुद्रा' के जीवनवाला व्यक्ति अवश्य प्रभु को प्राप्त होता है। यह बुराइयों का हरण करता है, मन को शुचि बनाता है, मस्तिष्क को दीप्त ज्ञानाग्नि की ज्वाला। औरों को ज्ञान प्राप्त कराता हुआ यह अपने जीवन को पवित्र करता है, सभी का कल्याण करता है।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ब्रह्मचर्य से ब्रह्म

नृषदे॒ वेड॑प्सु॒षदे॒ वेड् ब॑र्हि॒षदे॒ वेड् व॑न॒सदे॒ वेट् स्व॒र्विदे॒ वेट्॥१२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'लोपामुद्रा' बनने के लिए मार्ग बताया है कि अपनी जीवन-यात्रा की प्रथम मंज़िल में **नृषदे**=(नृषु सीदति) नायकों में स्थित होनेवाले के लिए आगे ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों में स्थित होनेवाले के लिए, अर्थात् पूर्णरूप से उनकी आज्ञा में चलनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **अप्सुषदे**=अब गृहस्थ में आने पर निरन्तर कर्मों में आसीन होनेवाले के लिए, अर्थात् उस गृहस्थ के लिए जो कि कुटुम्ब-भरण का सतत पुरुषार्थ करता है, जिसको आलस्य छू भी नहीं गया उस गृहस्थ का **वेट्**=हम आदर करते हैं। ३. अब वानप्रस्थाश्रम में **बर्हिषदे**=वासना-शून्य हृदय में स्थित होनेवाले के लिए **वेट्**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। जिसमें वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है वही हृदय बर्हि कहलाता है। एक वानप्रस्थ का सतत प्रयत्न यही होता है कि वह अपने हृदय को वासनाओं से शून्य बना सके। ४. **वनसदे**=(वननं=वनः=संभजन) सदा सम्भजन में स्थित होनेवाले संन्यासी के लिए हम **वेट्**=आदर के शब्द कहते हैं। यह संन्यासी प्रतिक्षण परमेश्वर का स्मरण करता है। अपनी सब क्रियाओं को करते हुए इसके मुख में प्रभु का नाम ही उच्चरित होता रहता है। ५. यह संन्यासी **स्वर्विदे**=उस स्वयं देदीप्यान प्रभु को प्राप्त करनेवाला (विद् लाभे, स्वयं राजते इति स्वरः) होता है। इस प्रभु को प्राप्त करनेवाले संन्यासी के लिए **वेट्**=हम आदर के शब्द कहते हैं। ६. इस प्रकार जीवन-यात्रा को क्रमशः पूर्ण करता हुआ यह व्यक्ति अपनी छोटी उम्र में माता-पिता व आचार्य में स्थित होता है। आगे चलकर सदा क्रियाशील बनता है। फिर वासनाओं के उखाड़ने में लगकर यह सतत उस प्रभु का भजन करता है। यही व्यक्ति हम सबके आदर का पात्र होता है।

भावार्थ—हम 'नृषद्, अप्सुषद्, बर्हिषद्, वनसद् तथा स्वर्वित् का आदर करते हैं।'

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

'लोपा-मुद्रा' का जीवन

ये दे॒वा दे॒वानां॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञिया॑नाꣳसंवत्स॒रीण॒मुप॑ भा॒गमास॑ते।
अ॒हु॒तादो॑ ह॒विषो॑ य॒ज्ञेऽअ॒स्मिन्त्स्व॒यं पि॑बन्तु॒ मधु॑नो घृ॒तस्य॑॥१३॥

१. **ये**=जो **देवानां देवाः**=देवों में भी देव हैं, विद्वानों में भी विद्वान् हैं, अर्थात् उच्च कोटि के ज्ञानी हैं। २. **यज्ञियानां यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में भी यज्ञशील हैं, अधिक-से-अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हैं। ३. **संवत्सरीणम्**=संवत्सर में होनेवाले, अर्थात् वर्षभर के **भागम्**=अपने कर्त्तव्यभाग की **उपासते**=उपासना करते हैं, अर्थात् प्रतिवर्ष का अपना कार्यक्रम बनाकर उसे पूरा करने का ध्यान करते हैं। ४. **अहुतादः**=दान दिये हुए को (हु दान) नहीं खाते, अर्थात् कभी दानवृत्ति पर आश्रित नहीं होते, अपितु ५. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवनयज्ञ में

हविषः=सदा हविरूप बनने का प्रयत्न करते हैं, (जुहोति इति हविः=जो देता है) सदा देते हैं, प्रतिग्रह से नहीं जीते। ५. **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से **मधुनः**=मधु का व **घृतस्य**=घृत का **पिबन्तु**=पान करनेवाले बनते हैं, अर्थात् स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर शहद व घृत आदि उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करते हैं।

भावार्थ—उत्तम जीवन के लक्षण ये हैं १. ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान। २. यज्ञिय वृत्ति। ३. जीवन को कार्यक्रम के साथ चलाना। ४. दान से जीविका न करना। ५. जीवन-यज्ञ में हविरूप बनना। ६. स्वयं पुरुषार्थ से कमाकर घृत, शहद आदि उत्तम पदार्थों का सेवन करना।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—प्राणाः। **छन्दः**—आर्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

न स्वर्ग में न पर्वत-शिखरों पर

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन्ये ब्रह्मणः पुरऽएतारोऽअस्य।
येभ्यो नऽऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्याऽअधि स्नुषु॥१४॥

१. **ये**=जो **देवाः**=विद्वान् लोग **देवेषु**=विद्वानों में **अधिदेवत्वम्**=आधिक्येन विद्वत्ता को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। जो ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करते हैं और इस ज्ञान को प्राप्त करके २. **ये**=जो **अस्य ब्रह्मणः**=इस ज्ञान को **पुरः**=आगे **एतारः**=ले-जानेवाले होते हैं (एतार इति अन्तर्भावितण्यर्थः प्रापयितारः गमयितारः)। ये विद्वान् ज्ञान प्राप्त करके इसे दूसरों को प्राप्त करानेवाले होते हैं, उसी प्रकार जैसेकि 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' ने प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके अपने अन्य अज्येष्ठ, अकनिष्ठ भ्राताओं को ज्ञान दिया। चार सर्वोत्कृष्ट बुद्धिवालों ने हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुना और उस प्रेरणा को औरों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार ये उत्कृष्ट ज्ञानी सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करते हैं, जहाँ ये जाते हैं वहीं वातावरण को बड़ा पवित्र बना डालते हैं। इसी लिए मन्त्र में कहते हैं कि २. **येभ्यः ऋते**=जिनके बिना **किञ्चन धाम**=कोई भी स्थान **न पवते**=पवित्र नहीं होता। ये लोग ज्ञान की चर्चा के द्वारा पवित्रता का सञ्चार करनेवाले होते हैं। जहाँ इस प्रकार के ज्ञानी नहीं पहुँचते वहाँ अज्ञानान्धकार फैलकर वातावरण को बड़ा दूषित कर देता है। ४. ये विद्वान् प्रजा के हित के लिए प्रजाओं में ही विचरण करते हैं। ये संसार को मायाजाल व अशान्ति का स्थान मानकर इससे दूर नहीं भाग जाते। **ते**=वे विद्वान् **दिवः**=द्युलोक के अथवा **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अधिस्नुषु**=पर्वत-शिखरों पर **नः**=नहीं भाग जाते, इसी प्रकार ये विद्वान् संन्यासी भी अशान्ति के भय से कहीं स्वर्गलोक में व पर्वत-शिखरों पर नहीं भागे फिरते। 'स्वर्गलोक में या पर्वत-शिखरों पर' यह मुहाविरा है, केवल इसी बात को स्पष्ट करने के लिए कि ये विद्वान् यहीं लोगों में ही रहते हैं। दूर शान्त स्थानों को नहीं ढूँढते रहते। दूर भागनेवाले संन्यासी ने क्या लोकहित करना?

भावार्थ—हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें। ज्ञान को चारों ओर फैलाने का प्रयत्न करें। ज्ञान को फैलाकर वातावरण को पवित्र बनाएँ। अज्ञानावृत लोगों से घृणा करके सुदूर पर्वत-शिखरों पर न भागे फिरें।

ऋषिः—लोपामुद्रा। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

व्याख्यानों के विषय

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥१५॥

१. लोगों में रहकर तू **प्राणदाः**=उन्हें प्राणशक्ति का ज्ञान देनेवाला हो। तेरे व्याख्यान प्राणशक्ति की वृद्धि के साधनों पर हों। प्राणशक्ति के बढ़ाने के लिए समुचित आहार-विहार का तू प्रतिपादन करनेवाला बन। २. इसी प्रकार **अपानदाः**=तू उनको दोषों के दूर करनेवाली अपानशक्ति का ज्ञान दे। 'किन-किन वस्तुओं के सेवन करने से यह शक्ति ठीक बनी रहती है' इसका तू प्रतिपादन कर। 'कौन से भोजन किस रूप में किये गये इसके लिए हानिकर हैं' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ३. **व्यानदाः**=व्यानशक्ति के ज्ञान का तू उन्हें देनेवाला बन। 'वह सर्वशरीर-सञ्चारी-वायु सारे नाड़ी-संस्थान को स्वस्थ रखनेवाला वायु कैसे ठीक रहता है' इस बात को तू लोगों को समझानेवाला हो। ४. इन विषयों के प्रतिपादन के द्वारा तू लोगों के लिए **वर्चोदाः**=शक्ति को देनेवाला हो। 'शरीर में किस प्रकार वर्चस् का संयम किया जा सकता है' इस विषय को तू लोगों को समझानेवाला हो। ५. इन सब बातों के साथ **वरिवोदाः**=तू धन को भी देनेवाला बन (वरिवः=wealth)। 'धन-प्राप्ति के क्या उचित उपाय है' इसका प्रतिपादन करनेवाला बन। 'वरिवः' शब्द का अर्थ worshipping=पूजा भी है, अतः तू लोगों को प्रभु की पूजा का ठीक प्रकार समझानेवाला हो और इस प्रकार उनके जीवनों में (वरिवः=Happiness) आनन्द का सञ्चार करनेवाला बन। ६. प्रभु कहते हैं कि **अस्मत्**=हमसे **ते**=तुझे प्राप्त **हेतयः**=ये प्रेरणाएँ **अन्यान्**=औरों को भी **तपन्तु**=दीप्त करनेवाली हों। तू इन प्रेरणाओं को आगे पहुँचानेवाला बन। ७. **पावकः**=अपने जीवन को निरन्तर पवित्र बनानेवाला तू **अस्मभ्यम्** =हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=सबका कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—विद्वान् संन्यासियों के व्याख्यान के विषय निम्न होने चाहिएँ। १. प्राण, अपान व व्यान की शक्तियों की वृद्धि। २. शरीर को कैसे वर्चस्वी बनाना? ३. 'धन-प्राप्ति के उचित उपाय क्या हैं?' ४. प्रभु-उपासना का प्रकार क्या है? ५. आनन्द-प्राप्ति का मार्ग क्या है? इस प्रकार विद्वान् लोग वैदिक प्रेरणाओं से औरों के जीवनों को दीप्त करें। प्रभु-प्राप्ति उन्हें तभी होगी जब वे पवित्र बनकर सभी के कल्याण में प्रवृत्त होंगे। 'लोपा-मुद्रा' बनने का यही मार्ग है।

ऋषिः—भारद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'अग्नि' का लक्षण

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम्। अग्निर्नो वनते रयिम् ॥१६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्नि' का लक्षण दिया है। 'अग्नि' वह पुरुष है जिसने अपने को अग्र स्थान पर प्राप्त कराया है तथा औरों को अग्र स्थान पर पहुँचाने में सहायक हो रहा है। इसी उद्देश्य से यह ज्ञान-प्रसार के कार्य में प्रवृत्त हुआ है। इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में लगने से पहले यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **तिग्मेन शोचिषा** =बड़ी तीव्र ज्ञान की ज्योति से **विश्वम्**=हमारे न चाहते हुए भी हममें घुस आनेवाली **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों को **नियासत्**=नितरां क्षीण करता है (यास् उपक्षये) 'काम, क्रोध, लोभ' आदि वृत्तियों पर पूर्ण प्रभुत्व पाने का प्रयत्न करता है। इन्हें वशीभूत करके ही यह औरों को ज्ञान देनेवाला बनेगा। २. यह **अग्निः**=अग्रेणी पुरुष **नः रयिम्**=हमारे धन को **वनते**=संविभागपूर्वक सेवन करनेवाला होता है। (वनतिर्दानार्थः—उ०) यह धन को देकर बचे हुए को ही सदा खाता है। यह धन को प्रभु का ही समझता है। परिणामस्वरूप इसका जीवन पवित्र बना रहता है।

भावार्थ—१. 'अग्नि' वह है जो तीव्र ज्ञान से कामादि वासनाओं को क्षीण कर देता

है। वासनाओं को क्षीण करके यह 'भारद्वाज' अपने में शक्ति भरनेवाला बनता है। २. यह धन कमाता है, परन्तु उसे प्रभु का समझता हुआ सदा संविभागपूर्वक सेवन करता है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रथमच्छद

यऽइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
सऽआशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२॥ऽआविवेश॥१७॥

१. गत मन्त्र में अग्नि की 'तिग्मशोचिः'=तीव्र ज्ञान-ज्योति का उल्लेख है। यह ज्ञान-ज्योति क्या है? इसी का प्रतिपादन प्रस्तुत मन्त्रों में है। 'यह सृष्टि कैसे बनी?' इसमें हमारा क्या स्थान व कर्त्तव्य है? इन विषयों को समझनेवाला (भुवनं पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला, वासनाओं से रक्षित करनेवाला तथा विश्वकर्मा=सदा कर्मों में व्यापृत रहनेवाला ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह उपासना करता हुआ इस प्रकार ध्यान करता है कि २. **यः**=जो **इमा**=इन **विश्वा भुवनानि**=सब दृश्यमान लोकों को **जुह्वत्**=प्रलय काल में अपने में आहुत करता हुआ **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा **होता**=सृष्टिकाल में सब पदार्थों का देनेवाला **नः**=हम सबका **पिता**=रक्षक **न्यसीदत्**=निश्चय से विराजमान है, २. **सः**=वह हमारा पिता प्रभु **आशिषा**='बहुः स्यां प्रजायेय'=मैं फिर बहुतों-से जाना जाऊँ, अतः इस सृष्टि को उत्पन्न करूँ, इस कामना से **द्रविणम्**=इसी गतिमय संसार को (द्रु गतौ से 'द्रविण',' सृ गतौ से संसार) **इच्छमानः**=चाहता हुआ **प्रथमच्छद्**=(प्रथ विस्तारे, छादयति) अपने विस्तार से सारे संसार को आच्छादित करनेवाला **अवरान् आविवेश**=इन अवर जीवों में प्रविष्ट हो रहा है। वह सबका अन्तर्यामी है। प्रभु पर (श्रेष्ठ) हैं, जीव अवर है, प्रभु जीवों में प्रविष्ट होकर उन्हें अन्तःप्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। ३. प्रभु जीवों को आच्छादित भी किये हुए हैं (प्रथमच्छद्) और उनमें प्रविष्ट भी हो रहे हैं (आविवेश)। यह 'भुवन पुत्र विश्वकर्मा' अपने को प्रभु से आच्छादित अनुभव करके निर्भयता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रलयकाल में ये सब लोक-लोकान्तर प्रकृतिरूप होकर प्रभु के गर्भ में रहते हैं। सृष्टि बनने पर प्रभु सब लोकों को आच्छादित करके उनमें व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

अधिष्ठान-आरम्भणम्

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥१८॥

१. गत मन्त्र में कहा है कि विश्वकर्मा ने सृष्टि का निर्माण किया। संसार में अधिष्ठानरहित लोग किसी वस्तु को करते हुए नहीं देखे जाते, अतः प्रश्न करते हैं कि **अधिष्ठानं किं स्वित् आसीत्**=(अधितिष्ठत्यस्मिन् इति) अधिकरण क्या था? कहाँ स्थित होकर प्रभु ने इस सृष्टि का निर्माण किया। २. फिर जैसे घटादि के निर्माण के लिए मिट्टी उपादान होती है इसी प्रकार इस सृष्टि के निर्माण के लिए (आरभ्यते अस्मात् इति) **आरम्भणं कतमत् स्वित्**=उपादानकारण कौन-सा था? ३. जैसे चक्र, मृत्तिका, सलिल आदि से घट का निर्माण होता है, इसी प्रकार यहाँ सृष्टि-निर्माण में **कथा आसीत्**=(कथंभूता क्रिया आसीत्) क्रिया किस प्रकार हुई? ४. एवं अधिष्ठान, आरम्भण व क्रिया के विषय में प्रश्न करके कहते हैं कि **यतः**=जिनके होने पर, अर्थात् जिनसे विश्वकर्मा—उस संसार

के निर्माता प्रभु ने **भूमिं द्यां च जनयन्**=पृथिवी और द्युलोक का उत्पादन करते हुए **महिना**=अपनी महिमा से **वि और्णोत्**=इनको विशिष्ट रूप से आच्छादित किया, इस प्रकार जैसे माता बच्चे को गोद में लेकर सुरक्षित करती है, उसी प्रकार वे प्रभु **विश्वचक्षाः**=इस संसार का ध्यान कर रहे हैं (चक्ष् to look after)।

भावार्थ—प्रभु अपनी महिमा से प्रकृति को इस विकृति व विसृष्टि का रूप देते हैं। इस सृष्टि का धारण भी वे प्रभु ही कर रहे हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वतश्चक्षुः पतत्रै

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देवऽएकः॥१९॥

१. गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह विश्वकर्मा **विश्वतश्चक्षुः**=सब ओर चक्षु-शक्तिवाला है, उत **विश्वतोमुखः**=और सब ओर वे प्रभु मुख की शक्तिवाले हैं। **विश्वतोबाहुः**=उनमें सब ओर बाहुओं की ग्रहणशक्ति है **उत**=और **विश्वतस्पात्**=सब ओर पाँवों की शक्ति है। वस्तुतः उस-उस इन्द्रिय से रहित होते हुए भी वे प्रभु उस-उस इन्द्रिय की शक्तिवाले हैं। वे सर्वव्यापक हैं। अव्यापक व एकदेशी को ही आधार की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापक प्रभु के लिए किसी ऐसे आधार की आवश्यकता नहीं है। २. ये प्रभु इस सृष्टि का निर्माण क्यों करते हैं? इस प्रश्न का भी प्रसङ्ग-वश उत्तर देते हुए कहते हैं कि **बाहुभ्याम्**=(बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्याम्) जीवों के धर्माधर्म के कारण संधमति (धमतिर्गत्यर्थः) इस सृष्टि-निर्माण की क्रिया को सम्यक्तया करते हैं। यदि जीव का धर्माधर्म न हो तो इस सृष्टि के बनाने का प्रयोजन ही न रह जाए। प्रभु कोई अपनी क्रीड़ा के लिए इस संसार को नहीं बना देते। ३. उपादान क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं वह **एकः देवः**=चक्र, सूत्र आदि उपकरणों से रहित अकेला देव ही **पतत्रैः**=(पतनशीलैः परमाण्वादिभिः—द०) निरन्तर गति में वर्त्तमान अथवा गति-स्वभाववाले परमाणुओं से **द्यावाभूमी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **सं जनयन्**=सम्यक् आविर्भूत करता है। ४. एवं गत मन्त्र के प्रश्नों का उत्तर यह हुआ कि (क) सर्वव्यापक होने के कारण उस प्रभु का कोई अधिष्ठान नहीं है। (ख) निरन्तर गतिशील परमाणु ही वे उपादान हैं जिनसे प्रभु सृष्टि को बनाते हैं। (ग) सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक होने के कारण प्रभु को चक्र, सूत्रादि उपकरणों की आवश्यकता नहीं है। केवल जीवों के धर्माधर्म, इष्टानिष्ट प्रयत्न (बाह=प्रयत्न) ही अपेक्षित हैं। इनके न होने पर तो यह सृष्टि प्रभु की एक वैषम्य व नैर्घृण्य (पक्षपात व क्रूरता) से भरी क्रूर-क्रीड़ा ही प्रतीत होने लगती।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक प्रभु, अपने स्वरूप में ही स्थित हुए, जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा से निरन्तर क्रियाशील परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण कर देते हैं। उन्हें किन्हीं उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वनं-वृक्षः

किꣳस्विद्वनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥२०॥

१. **वनम्**=वे संभजनीय प्रभु **किं स्वित्**=कैसे हैं व कौन हैं? २. **उ**=तथा **सः वृक्षः**=(वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः) वह छेदनयोग्य यह संसार क्या है? ३. उत्तर देते हुए कहते हैं कि ये प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **निष्टतक्षुः**=गत मन्त्र में वर्णित पतत्रों (परमाणुओं) से घड़े गये हैं। ४. **मनीषिणः**=हे मन का शासन करनेवाले विद्वानो! **मनसा पृच्छत इत् उ**=मन से ही उसे जानने की इच्छा करो **तत्**=उसे **यत्**=जो **भुवनानि**=सब लोकों को **धारयन्**=धारण करता हुआ **अध्यतिष्ठत्**=अधिष्ठातृ रूपेण वर्त्तमान है। ५. 'वे संभजनीय प्रभु कैसे हैं?' इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि (क) उनसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक घड़कर बनाये गये हैं। (ख) वे मन से ही जानने योग्य हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं (ग) सब भुवनों का धारण कर रहे हैं। (घ) और सारे ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं। ६. यह संसार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि (क) यह छेदनीय (वृक्ष) है। दृढ़, असङ्ग (Non attachment) शस्त्र से ही इसका छेदन हो सकता है। (ख) इसका एक सिरा पृथिवी है तो दूसरा सिरा द्युलोक है। दूसरे शब्दों में यह सान्त है। विशाल होते हुए भी इसका अन्त तो है ही। (ग) इस द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में कितने ही भुवन (लोक-लोकान्तर) हैं, अनगिनत लोकों से बना हुआ यह संसार है। (घ) परमेश्वर से यह अधिष्ठित है।

भावार्थ—वे प्रभु वन=उपास्य हैं, यह संसार वृक्ष=छेदनीय है।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-अवम-मध्यम धाम

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥२१॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सारे संसार के निर्माण करनेवाले! **स्वधावः**=अपनी धारण शक्तिवाले! और किसी से न धारण किये जानेवाले प्रभो! **ते**=आपके **या**=जो **परमाणि धामानि**=उत्कृष्ट धाम (property, wealth) ज्ञानरूप सम्पत्तियाँ हैं, **या**=जो **अवमा**=ये सबसे कनिष्ठ **धामानि**=लक्ष्मीरूप सम्पत्तियाँ हैं **उत**=और **या मध्यमा**='बल व शक्ति'रूप सम्पत्तियाँ हैं **इमा**=इन सबको **सखिभ्यः**=अपने इन सदा सयुज सखाओं=जीवों के लिए **हविषि**=हवि के निमित्त **शिक्ष**=दीजिए (शिक्ष=देहि—म०) आपसे ज्ञान, धन व बल को प्राप्त करके आपके सखा ये जीव इनका हविरूप में ही प्रयोग करें। इनसे वे औरों का कल्याण करनेवाले बनें। २. अपने सखा जीव की इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **तन्वम्**=अपने शरीरों की शक्तियों को **वृधानः**=बढ़ाते हुए स्वयं **यजस्व**=तू इन वस्तुओं से स्वयं सङ्गत हो। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, शान्त होकर रुक नहीं जाता तब वह अवश्य ही प्रभु को पानेवाला बनता है। जीव को चाहिए कि संयम से सबल होकर स्वयं ही प्रभु को प्राप्त करे और प्रभु के सब धामों को प्राप्त करने का अधिकारी बने।

भावार्थ—प्रभु के सब धाम=सम्पत्तियाँ=ज्ञान, धन व बल अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवालों को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मघवा-सूरिः

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्येऽअभितः सपत्नाऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु॥२२॥

१. गत मन्त्र के अन्तिम शब्दों में प्रभु जीव से शक्तिधामों को स्वयं प्राप्त करने के लिए कह रहे थे। उसी प्रसङ्ग को प्रस्तुत मन्त्र में चलाते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **विश्कर्मन्**=सब कालों में सदा कर्म करनेवाले मेरे मित्र! तू **हविषा**=दानपूर्वक अदन से, अर्थात् स्वार्थ की वृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा **वावृधानः**=शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से खूब उन्नति करता हुआ **स्वयम्**=अपने पुरुषार्थ से ही **पृथिवीम्**=विस्तृत शक्तियोंवाले शरीर को **उत**=और **द्याम्**=प्रकाशमय मस्तिष्क को **यजस्व**=अपने साथ सङ्गत कर। (क) तेरा जीवन क्रियाशील हो (विश्वकर्मन्) (ख) दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हविषा) (ग) सब प्रकार से खूब उन्नति कर (वावृधानः) और इस प्रकार (घ) शरीर की शक्तियों को प्रथित कर (पृथिवीम्) तथा मस्तिष्क को प्रकाशमय बना (द्याम्)। २. **अन्ये**=तुझसे भिन्न **अभितः सपत्नाः**=तेरे आन्तर व बाह्य शत्रु **मुह्यन्तु** =वैचित्य को प्राप्त करें। उनके तो होशो-हवास भी गुम हो जाएँ। तेरे शत्रु घबराकर तुझे दूर से छोड़ दें। ३. प्रभु कहते हैं कि **इह**=इस संसार में **मघवा**=(मघ=मख) यज्ञशील **सूरिः**=विद्वान् पुरुष **अस्माकम् अस्तु**=हमारा बनकर रहे। वह प्रकृति का दास न बन जाए। प्रभु की मित्रता के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। यह प्रभु का प्यारा स्वयं यज्ञशील व ज्ञानी बनकर औरों को भी (षू प्रेरणे) सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो। (सूरिः=आत्मज्ञानोपदेशकः-म०)।

भावार्थ-१. हम क्रियाशील हों। २. दानपूर्वक अदन ही हमारा स्वभाव हो। ३. सदा उन्नति के मार्ग पर चलें। ४. शरीर की शक्तियों को बढ़ाएँ, मस्तिष्क को प्रकाशमय करें। ५. बाह्य व आन्तर शत्रुओं को जीतें। ६. यज्ञशील हों। ७. ज्ञानी बनकर औरों को भी उत्तम प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः-भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**-विश्वकर्मा। **छन्दः**-भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**-धैवतः॥

विश्वशम्भूः-साधुकर्मा

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥२३॥

१. **वाचस्पतिम्**=वाणी के पति, वेदज्ञान के स्वामी **विश्वकर्माणम्**=सब कर्मों को करानेवाले अथवा इस संसाररूप कर्मवाले, सृष्टि के निर्माता **मनोजुवम्**=सबके मनों में स्थित होकर प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **ऊतये**=रक्षा के लिए-आधि-व्याधियों से बचने के लिए तथा **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **अद्या**=आज **हुवेम**=पुकारते हैं। (क) प्रभु वेदज्ञान के पति हैं, उस प्रभु से ही हम सब ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनेंगे। (ख) वे प्रभु विश्वकर्मा हैं, हमें भी कर्म करने की सब शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। (ग) **मनोजुवम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु मुझे सदा प्रेरणा प्राप्त करा रहे हैं। (घ) यदि हम इस प्रेरणा को सुनेंगे तो अवश्य आधि-व्याधियों से बचेंगे और शक्ति को प्राप्त करेंगे (ऊतये, वाजे)। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **विश्वानि**=सब **हवनानि**=आह्वानों को **जोषत्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें, अर्थात् हमारी पुकार को सुनें। ३. **विश्वशम्भूः**=वह सारे संसार का कल्याण करनेवाले हैं। ४. **अवसे**=वे प्रभु अन्नादि प्रापण के द्वारा हमारी रक्षा करते हैं। ५. **साधुकर्मा**=वे प्रभु सदा उत्तम व सिद्ध कर्मोंवाले हैं। प्रभु का उपासक बनकर मैं भी 'साधुकर्मा' बन पाऊँ।

भावार्थ-प्रभु की उपासना से मेरा जीवन शान्त होगा, मेरा योगक्षेम ठीक चलेगा

(अवसे) मेरे कर्म सदा उत्तम व सफलतावाले होंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

उग्र-विहव्य=अधृष्य, अभिगम्य

विश्वकर्मन् हविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्॥२४॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=सम्पूर्ण सृष्टिरूप कर्म करनेवाले प्रभो! आप **हविषा**=दानपूर्वक अदन—त्यागपूर्वक भोग की वृत्ति से तथा **वर्द्धनेन**=सब शक्तियों के वर्धन से (वर्धते) या काम-क्रोधादि शत्रुओं के छेदन से (वर्धयति=to cut, shear) **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **त्रातारम्**=अपना रक्षक, शरीर व मन को व्याधि व आधियों से बचानेवाला तथा **अवध्यम्**=वृत्रादि शत्रुओं से वध के अयोग्य **अकृणोः**=बना दीजिए। २. उत्तम जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) दानपूर्वक अदनवाले हों (हविषा)। (ख) काम-क्रोधादि का छेदन करें (वर्धनेन)। (ग) इन्द्रियों के अधिष्ठाता हों (इन्द्रम्)। (घ) अपने को रोगाक्रान्त न होने दें (त्रातारम्)। (ङ) वासनाओं से वध योग्य न हो जाएँ (अवध्यम्)। ३. **तस्मै**=उल्लिखित जीवनवाले व्यक्ति के लिए **पूर्वीः विशः**=उत्कृष्ट प्रजाएँ **समनमन्त**=झुकती हैं, अर्थात् उसका आदर करती हैं। ४. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **यथा**=जिससे **अयम्**=यह **उग्रः**=तेजस्वी तथा **विहव्यः**=विविध कार्यों में आह्वान के योग्य हो। यह सबका आदरणीय हो।

भावार्थ—हमारा जीवन तेजस्वी और विहव्य हो। हम तेजस्वी हों, परन्तु भयंकर न हों। लोगों की दृष्टि में हम आदरणीय हों। तेजस्विता के कारण हम 'अधृष्य' हों, परन्तु क्रोधादि से ऊपर उठे होने के कारण 'अभिगम्य' हों।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अन्तों की दृढ़ता

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेनेऽअजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ताऽअददृहन्त पूर्वऽआदिद् द्यावापृथिवीऽअप्रथेताम्॥२५॥

१. गत मन्त्र का 'उग्र और विहव्य' व्यक्ति **चक्षुषः पिता**=चक्षु आदि इन्द्रियों का पालक बनता है। यह इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोकता है। २. **मनसा हि धीरः**=मन से यह अत्यन्त धैर्यवाला होता है (धैर्यवान्—द०)। ३. इसकी **घृतम्**=तेजस्विता व ज्ञान-दीप्ति **एने**=इसके पृथिवी व द्युलोक को—शरीर व मस्तिष्क को **नम्नमाने**=नम्रतावाला **अजनत्**=करते हैं। इसके शरीर में तेजस्विता के कारण अकड़ नहीं होती, अर्थात् इसके अङ्ग लोच=लचकवाले होते हैं और इसका मस्तिष्क ज्ञान के कारण अकड़ व घमण्ड से रहित होता है। ४. **यदा इत्**=ज्योंही **पूर्वे**=शरीर में प्रथमस्थान में स्थित, अर्थात् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण **अन्तः**=अन्त-प्रदेश, आशा-स्थान **अददृहन्त**=दृढ़ हो जाते हैं **आत् इत्**=त्योंही **द्यावापृथिवी अप्रथेताम्**=मस्तिष्क व शरीर दोनों ही विस्तृत शक्तियोंवाले हो जाते हैं। ५. यहाँ 'अन्तः' शब्द जिन अन्त-प्रदेशों व आशा-स्थानों (आशा=दिशा) का उल्लेख करता है उनका वर्णन अथर्व १।३१।२। में इस प्रकार हुआ है **'य आशानामाशापालाश्चत्वारः स्थन देवाः।ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः।'** अर्थात् हे देवो! जो तुम दिशाओं के चार दिशा-पालक हो वे तुम हम

सबको अवनति के पाशों से तथा हरेक पाप से छुड़ाओ। यहाँ पूर्वद्वार 'मुख' है और इसके सम्मुख पश्चिम द्वार 'गुदा' है। इन दोनों का अभिप्राय यह है कि मुख से कोई भी अपथ्य भोजन व अतिमात्र भोजन प्रवेश न कर सके तथा गुदा से प्रत्येक मलांश का बहिष्करण होता रहे। इसी प्रकार उत्तर द्वार 'विदृति'=ब्रह्मरन्ध्र है और इसके ठीक सुदूर नीचे की ओर दक्षिण द्वार 'शिश्न' है। शिश्न के दृढ़ होने का अभिप्राय यह है कि यह मूत्र का ही त्याग करनेवाला हो, रेतस् का रक्षक हो। ऐसा होने पर ही 'विदृति' द्वार हमारे लिए प्रकाशमय होकर हमारे बन्धन से मोक्ष का कारण बनेगा। ६. इन अन्तों का दृढ़ीकरण आवश्यक है। इनके दृढ़ीकरण के बिना शरीर स्वस्थ नहीं हो पाता और मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि बुझी रह जाती है।

भावार्थ—हम शरीर में चारों अन्तों को दृढ़ करके तेजस्वी व ज्ञान-दीप्त बनें।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विश्वकर्मा-विमनाः

विश्वकर्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् परऽएकमाहुः॥२६॥

१. वे प्रभु **विश्वकर्मा**=(विश्वं कर्म यस्य) इस सृष्टिरूप कर्मवाले हैं, इस ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। २. **विमनाः**=(विविधं मनो विज्ञानं यस्य—द०) विविध व विशिष्ट ज्ञानवाले हैं। अपनी उत्कृष्ट ज्ञानमयता से ही प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं। प्रभु के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही यह सृष्टि पूर्ण है। ३. **आत्**=और (अपि च) **विहायाः**=वे प्रभु महान् हैं, सर्वव्यापाक हैं। सर्वत्र प्राप्त होने से ही वे सृष्टिरूप कार्य के करनेवाले हैं। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया सम्भव नहीं है। ४. **धाता**=वे प्रभु धर्त्ता व पोषक हैं। ५. **विधाता**=उत्पादक हैं, जीवों को कर्मानुसार शरीरों के देनेवाले हैं। ६. **परमः**=प्रकृति 'पर' है, जीव 'पर-तर' है और परमात्मा 'परतम' व 'परम' है, सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रकृति से पुरुष=जीव उत्कृष्ट है, परन्तु प्रभु जीवों से भी उत्तमपुरुष हैं, इसी से 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। ७. **उत**=और **सन्दृक्**=वे प्रभु सम्यग् द्रष्टा हैं। अपने उपासकों के योगक्षेम का ध्यान करनेवाले हैं। ८. **तेषाम्**=उन लोगों को ही **इष्टानि**=इष्टसुख प्राप्त होते हैं और वे ही **इषा**=प्रभु प्रेरणा से **संमदन्ति**=उत्तम आनन्द को अनुभव करते हैं। **यत्र**=जबकि **सप्तऋषीन्**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'=कान, नासिका, आँखों व मुख—इन सप्त-ऋषियों को **परः**=उस परब्रह्म में **एकम्**=एकीभाव को प्राप्त हुआ-हुआ **आहुः**=कहते हैं, अर्थात् जब ये सब इन्द्रियाँ उस उत्कृष्ट परब्रह्म में एकाग्र हो जाती हैं तब प्रभु-प्रेरणा के सुनने से ये ध्यानी लोग एक आनन्द-विशेष का अनुभव करते हैं और इन्हें सब इष्टसुख प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को एकाग्र करके उस परमात्मा का चिन्तन करें जो 'विश्वकर्मा— विमना—विहाया—धाता—विधाता—परम व सन्दृक्' है, जो 'पर' हैं। ऐसा करने पर हम प्रेरणा के सुननेवाले होंगे और आनन्द का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

संप्रश्न

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳसम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥२७॥

१. **यः**=जो परमात्मा **नः**=हम सबका **पिता**=पालक, रक्षक है २. **जनिता**=सबका

प्रादुर्भाव करनेवाला है। ३. **यः**=जो **विधाता**=कर्मानुसार विविध शरीरों का देनेवाला है। ४. जो **धामानि**=सब तेजों को तथा **विश्वा भुवनानि**=सब पदार्थों के अधिकरणभूत इन सब लोकों को **वेद**=जानता है अथवा (विद् लाभे) प्राप्त कराता है। ५. **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **नामधाः**=नाम का धारण करनेवाला है, परन्तु है **एकः एव**=एक ही। 'सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत्' आदि सब देवों के नाम परमात्मा के भी हैं, इतना ही नहीं मुख्यरूप से ये नाम परमात्मा के ही हैं। वे प्रभु सरति=सारे संसार को गति देते हैं, अतः सूर्य हैं। चन्दति 'आह्लादयति' सबको प्रसन्न करने के कारण, सदा आनन्दमय रहने के कारण प्रभु चन्द्र नामवाले हैं। गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले ये प्रभु वायु हैं और ज्ञान से विशिष्ट रूप में चमकनेवाले ये प्रभु विद्युत् हैं। ६. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(सम्यक् प्रश्नः यस्मिन्) जिज्ञास्य प्रभु को **विश्वा**=सब **अन्या**=दूसरे **भुवना**=लोक–लोकों में रहनेवाले प्राणी **यन्ति**=जाते हैं, सज्जन सर्वदा उसका स्मरण करते हैं, परन्तु दुर्जन भी मुसीबत आने पर उसी के नाम का स्मरण करते हैं।

भावार्थ–वे प्रभु सब तेजों व लोकों के देनेवाले हैं। वे प्रभु ही **संप्रश्न**=सम्यग् जिज्ञास्य हैं।

ऋषिः–भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**–विश्वकर्मा। **छन्दः**–भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**–धैवतः॥

मर्यादित धनसंग्रह

तऽआयजन्त द्रविणꣳसमस्माऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि॥२८॥

१. **ये**=जो **ऋषयः**=तत्त्वज्ञानी होते हैं **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले होते हैं **जरितारः**=प्रभु के स्तोता होते हैं तथा २. **असूर्ते**=(असुभिः ईरिते) प्राणों से प्रेरित, अर्थात् प्राण-साधना के द्वारा प्रभु की ओर लगाये गये **सूर्ते**=(सु ईरिते) उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करनेवाले **रजसि**=हृदयान्तरिक्ष में **निषत्ते**=(निषत्ते जस एकारः–म०) निश्चय से स्थित होते हैं, अर्थात् जिन्होंने प्राण-साधना के द्वारा हृदय की वृत्ति को प्राकृतिक विषयों से हटाकर आत्मस्वरूप में अवस्थित करने का प्रयत्न किया है, अतएव जिनका हृदय प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला बनता है (सूर्त)। ३. **ये**=जो **इमानि भूतानि**=इन पृथिवी आदि शरीर के उपादानकारणभूत पञ्चभूतों को **समकृण्वन्**=उत्तम बनाते हैं, अर्थात् इनकी अनुकूलता से पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। ४. **ते**=वे **द्रविणम्**=धन को **अस्मै**=इस प्रभु के लिए–प्रभु-प्राप्ति के लिए **सम् आयजन्त**=सम्यक्तया अपने साथ सङ्गत करते हैं। शरीर के योगक्षेम के लिए वे धन का ग्रहण तो करते हैं, परन्तु **न भूना** (न भूम्ना)=बाहुल्येन नहीं। धन को बहुत अधिक नहीं जुटाते। ५. धन का संग्रह ये क्यों करते हैं? (क) (ऋषयः) तत्त्व ज्ञानी बनने के लिए, ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने के लिए। ज्ञान-प्राप्ति के साधनों के जुटाने में यह धन सहायक होता है। (ख) (पूर्वे) अपना पूरण करने के लिए। यह शरीर भौतिक है, इसके पालन-पोषण के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता है। उनका जुटाना धन से ही सम्भव है, परन्तु ये धन को विलास की सामग्री जुटाकर अपनी शक्तियों की क्षीणता का कारण नहीं बनने देते। (ग) (जरितारः) प्रभु की स्तुति के लिए। धनाभाव में नमक, तेल, ईंधन की परेशानी ही मनुष्य को अशान्त किये रक्खेगी, वह प्रभु-भजन क्या कर पाएगा? (घ) ये धन को इसलिए जुटाते हैं कि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चिन्त-से होकर ये (असूर्ते

सूर्ते रजसि निषत्तः) प्राण-साधना कर सकें। योग की ओर प्रवृत्त हो सकें। योगाभ्यास में अपना अधिक समय दे सकें। धनाभाव व परिवार का बोझ भी मनुष्य को उस मार्ग पर नहीं चलने देता। (ङ) धन को इसलिए जुटाते हैं कि ये (भूतानि समकृण्वन्) पाँच भौतिक शरीर की आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से जुटा सकें और पूर्ण स्वस्थ बन सकें। ६. यह धन का संग्रह उनका नाश करनेवाला न हो जाए इसके लिए वे इस बात का सदा ध्यान रखते हैं कि 'न भूना' यह बाहुल्येन न जुट जाए। उस स्थिति में यह प्यास को और बढ़ाता है और मनुष्य इसी का गुलाम बन जाता है। सब बौद्धिक व आध्यात्मिक उन्नति धरी रह जाती है। इसलिए धन को जुटाना है, परन्तु मर्यादा में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नकि विलास की सामग्री जुटाने के लिए। आदर्श Simple living ही रहे 'सादा जीवन,' नकि Standard of living को ऊँचा करना', अर्थात् आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना।

भावार्थ—पूर्व श्रेष्ठ ऋषि भी प्रभु-प्राप्ति के लिए, योगादि में निश्चिन्ततापूर्वक प्रवृत्त होने के लिए मर्यादित धन-संग्रह करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परो दिवा—परःपृथिव्या

परो दिवा परऽएना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
किꣳस्विद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ॥२९॥

१. वह परमात्मा **दिवा परः**=द्युलोक से भी दूर है, **एना पृथिव्या**=इस पृथिवी से भी **परः**=दूर है। २. **देवेभिः**=देवों से भी **परः**=वह दूर है, देव भी उस तक नहीं पहुँच पाते 'नैनद् देवा आप्नुवन्' (यजुः० ४०।४) और **असुरैः परः**=असुरों से भी वह दूर है। देवों व असुरों से वह विलक्षण प्रभु दुर्ज्ञेय है। ३. **यद् अस्ति**=ऐसा जो प्रभु है वह द्युलोक से परे है, अध्यात्म में मस्तिष्क से परे है। मस्तिष्क के तर्क का वह विषय नहीं बनता। इसीलिए मस्तिष्क प्रधान देवों की पहुँच से भी वह बाहर है। पृथिवी से भी वह परे है, अध्यात्म में पृथिवी 'शरीर' है। इस शरीर के विकास में लगे हुए असुरों से भी वह प्रभु प्राप्य नहीं। ४. **किं स्वित्**=उस विलक्षण अनिर्वचनीय **गर्भम्**=(ग्रहीतुं योग्यं—द०) ग्रहण के योग्य **प्रथमम्**=(प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तृत—सर्वव्यापक प्रभु को **आपः**=प्राण **दध्रे**=धारण करते हैं। प्राणायाम द्वारा प्राणों की साधना होने पर चित्तवृत्ति का निरोध होता है। चित्तवृत्ति का निरोध होनेपर द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थान होता है। इसी समय प्रभु का दर्शन होता है। इसी से मन्त्र में कहते हैं कि **यत्र** =प्राणों के स्वाधीन होने पर **पूर्वे देवाः**=(अधीतपूर्ण विद्याः—द०) पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होनेवाले विद्वान् **समपश्यन्त**=उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

भावार्थ—१. मस्तिष्क व मस्तिष्क की साधना करनेवाले देवों से वह प्रभु दूर है। २. शरीर व शरीर की साधना करनेवाले असुरों से तो वह निश्चित ही दूर है। ३. उस ग्रहणीय व्यापक प्रभु को प्राण ही धारण करते हैं। ४. इस प्राण-साधना के होने पर अधीतपूर्णविद्या देव उस प्रभु का सम्यग् दर्शन करते हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

भूतभृन्न च भूतस्थः

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रऽआपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥३०॥

१. **तम् इत गर्भं प्रथमम्**=उस आश्चर्यभूत, निश्चय से ग्रहणीय, व्यापक परमात्मा को **आपः दधे**=प्राण धारण करते हैं, अर्थात् प्राण-साधना होने पर ही, चित्तवृत्ति के निरोध से हम स्वरूप में स्थित होते हैं और प्रभु का दर्शन कर पाते हैं। २. **यत्र**=इस प्राण-साधन के होने पर **विश्वे**=(विशन्ति) उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले जैसे नदियाँ समुद्र में, **देवाः**=ज्ञान-ज्योति से द्योतित हृदयवाले विद्वान् **समगच्छन्त**=सम्यक्तया प्रभु से सङ्गत होते हैं। ३. **अजस्य**=उस अजन्मा (न जायते) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों का प्रक्षेपण=नाश करनेवाले (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु की **नाभौ**=(नह बन्धने) बन्धनशक्ति में **एकम्**=यह नाना पुष्परूप लोक-लोकान्तरों से बना हुआ सुव्यवस्थित ब्रह्माण्डरूप हार **अध्यर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। ये सब लोकलोकान्तर उस प्रभु में इस प्रकार प्रोत (पिराये हुए) हैं जैस सूत्र में मणियों के गण प्रोत होते हैं। वे प्रभु सूत्र हैं, सूत्रों के भी सूत्र हैं। सब लोक उसी प्रभु में बद्ध हैं। ४. इस प्रकार वे प्रभु वे हैं **यस्मिन्**=जिनमें **विश्वानि भुवनानि**=सब भूतजात **तस्थुः**=स्थित हैं। 'वे प्रभु किसी में स्थित हों' ऐसी बात नहीं। वे सर्वाश्रय हैं, उनका कोई अन्य आश्रय नहीं। वे प्रभु सचमुच 'भूतभृन्न च भूतस्थः' सब भूतों का भरण करनेवाले, पर उनपर अनाश्रित हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब भूतों का भरण करनेवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड उन्हीं में अर्पित हैं।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

नीहार-निराकरण

न तं विदाथ य ऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽउक्थशासश्चरन्ति॥३१॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **न विदाथ**=तू नहीं जान पाता। उस परमात्मा को **यः इमा जजान**=जिसने इन सब लोक-लोकान्तरों वा तुम्हारे शरीरों को भी जन्म दिया है। कितना आश्चर्य है कि अपने जनिता (उत्पादक) को भी हम नहीं जानते। २. **अन्यत्**=वे प्रभु तो अत्यन्त विलक्षण हैं। सामान्य वस्तु को जाना जाए या न जाना जाए, परन्तु जो अत्यन्त विलक्षण है, वह तो दिखनी ही चाहिए। ३. और वह कहीं दूर हो यह बात भी नहीं, **युष्माकं अन्तरं बभूव**=वह तो तुम्हारे अन्दर ही व्याप्त हो रहा है। ४. ऐसा होते हुए भी उसको न देख सकने का कारण यह है कि **नीहारेण प्रावृताः**=कुहरे के समान अज्ञान से आवृत होकर **चरन्ति**=लोग संसार-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। जब ज्ञानरूप सूर्य का उदय होगा और यह अज्ञान का कुहरा विलीन होगा तभी हम प्रभु का दर्शन कर पाएँगे। ५. **जल्प्या 'प्रावृताः'**=हम गप-शप में, प्रवृत्त रहते हैं, इससे भी प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते। थोड़े सत्य-असत्य, वादानुवाद में स्थिर रहनेवाले हम हो जाते हैं। यह **जल्पि**=वादानुवाद (Debates व Discussions) भी हमें प्रभु-दर्शन से दूर रखते हैं। हम शास्त्रार्थों में विजय की इच्छा से सरगर्मी से प्रवृत्त रहते हैं और तत्त्वज्ञान तक नहीं पहुँच पाते। व्यर्थ की बातें हमें प्रभु-दर्शन से वञ्चित करनेवाली होती हैं। ६. **च**=और इसलिए भी हम प्रभु-दर्शन नहीं कर पाते कि हम **असुतृपः**=प्राणों के पोषण में ही लगे रह जाते हैं। हमारा सारा समय भोजन जुटाने, उसे तैयार करने व खाने में ही लग जाता है। चिन्तन का समय ही हमें नहीं होता। कुछ समय मिलता भी है तो वह आमोद-प्रमोद में व्यर्थ हो जाता है। हमारा उद्देश्य

सांसारिक सुख-साधनों का बढ़ाना ही लगता है। ७. कुछ अच्छी वृत्ति हुई तो हम सांसारिक सुख-साधनों से कुछ ऊपर उठकर परलोक-सुखों के सम्पादन के लिए **उक्थशासः**=यज्ञों में, उक्थों का शंसन करने में **चरन्ति**=लगे रहते हैं। 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः' 'ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं है' यह उपनिषद् वाक्य हमें भूल जाता है और हम प्राण-साधना व योगाभ्यास में प्रवृत्त नहीं होते। परिणामतः प्रभु के दर्शन से दूर ही रहते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए आवश्यक है कि १. हम अज्ञान को दूर करें। २. गपशप न मारते रहें। ३. सांसारिक सुख-साधनों का ही संग्रह न करते रह जाएँ और ४. यज्ञों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति ही हमारा ध्येय न बन जाए।

ऋषिः—भुवनपुत्रो विश्वकर्मा। **देवता**—विश्वकर्मा। **छन्दः**—स्वराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

लोक-वेद-ओषधि-पर्जन्य

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद् गन्धर्वोऽअभवद् द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा॥३२॥

१. **विश्वकर्मा**=इस सारे ब्रह्माण्ड को व जीव-शरीरों को उत्पन्न करनेवाले **देवः**=प्रभु ने **हि**=निश्चय से **अजनिष्ट**=सब लोक-लोकान्तरों व जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया, लोक-लोकान्तर बनाये और उनमें कर्मानुसार जीवों को शरीर धारण कराये। २. **आत् इत्**=जीवों को उस-उस लोक में शरीर देने के बाद विश्वकर्मा अब **द्वितीयः**=दूसरे स्थान को पूरण करनेवाला **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला **अभवत्**=हुआ, अर्थात् जीवों को जन्म देने के बाद प्रभु ने सबसे प्रथम उन्हें वेदज्ञान दिया। हृदयस्थरूपेण 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' को सम्पूर्ण वेदज्ञान देकर उनके द्वारा सभी को प्रकाशमय जीवनवाला किया। ३. **तृतीयः**=तीसरे स्थान को पूरण करनेवाला यह परमात्मा **पिता**=सबका रक्षक हुआ। रक्षण के उद्देश्य से ही **ओषधीनां जनिता**=ओषधियों को उत्पन्न करनेवाला हुआ। ४. इस तृतीय वाक्य की रचना व स्थिति से दो बातें स्पष्ट हैं—(क) स्वाध्याय का स्थान भोजन से भी प्रथम है तथा (ख) भोजन के लिए—भोजन के द्वारा शरीर-पालन के लिए प्रभु ने ओषधियों को जन्म दिया है। ये ही मनुष्य के मुख्य भोजन हैं। ५. इन ओषधियों के उत्पादन के लिए प्रभु ने **अपां गर्भम्**=जलों को अपने में धारण करनेवाले पर्जन्य=मेघ को उत्पन्न किया, जो मेघ **पुरुत्रा**=पुरुत् त्रायते=बहुतों की रक्षा करता है अथवा पालन व पूरण करता है (पुरु) और रक्षा करता है (त्रा)। इस प्रकार प्रभु की कितनी कृपा है? उसकी अनन्त कृपा का स्मरण करता हुआ 'भुवनपुत्र विश्वकर्मा' उस प्रभु का स्तवन करता है और तदनुरूप बनने का प्रयत्न करता है। यह भी भुवनों को पवित्र करनेवाला तथा सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाला बनता है। इस प्रभु-उपासन के परिणामरूप वह अनुपम शक्ति प्राप्त करके जीवन-संग्राम में विजयी होता है और अगले मन्त्रों का ऋषि 'अप्रतिरथ'=अद्वितीय योद्धा बन जाता है। इस अप्रतिरथ का चित्रण अगले मन्त्रों में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—१. प्रभु सारे लोक-लोकान्तरों को जन्म देते हैं। जीवों को कर्मानुसार शरीर देते हैं। २. शरीर देते ही जीवों को वेदज्ञान देते हैं, जिससे वे प्रकृति के प्रयोग में व परस्पर व्यवहार में ग़लती न करें। ३. उनके शरीरों के रक्षार्थ ओषधियों को जन्म देते हैं। ४. ओषधियों की उत्पत्ति के लिए बादलों की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

शतसेना पराजय

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳसेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः॥३३॥

१. प्रभु के उपासक का प्रकरण चल रहा था। 'यह उपासक कैसा बन जाता है।' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आशुः**=(अश्नुते व्याप्नोति) यह सदा कार्यों में व्यापृत रहता है। 'विश्वकर्मा' की उपासना करके यह 'विश्वकर्मा' क्यों न बनेगा? 'आशु' शब्द में शीघ्रता की भी भावना है। यह शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। इसमें आलस्य नहीं होता। २. **शिशानः**=(शो तनूकरणे) यह अपनी बुद्धि को खूब ही तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि ने ही तो उसे प्रभु का दर्शन कराना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**= प्रभु सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देखे जाते हैं। ३. **वृषभः**=यह वृषभ के समान शक्तिशाली होता है। **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**=निर्बल से प्रभु की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। ४. **न भीमः**=शक्तिशाली होते हुए भी यह भयंकर नहीं होता। अपितु शक्ति के साथ इसमें शान्ति व सौम्यता होती है। सौम्यता शक्ति को अलंकृत करनेवाली है। यह शक्ति से पर-पीड़न न करके पर-रक्षण ही करता है। ५. **घनाघनः**=यह काम, क्रोधादि आन्तर शत्रुओं का पूर्णरूपेण हनन करनेवाला होता है। ६. **चर्षणीनां क्षोभणः**=मनुष्यों को उत्तम प्रेरणा देकर उनमें अध्यात्म-संग्राम के लिए हलचल उत्पन्न कर देता है। वे कामादि शत्रुओं से युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। ७. **संक्रन्दनः**=यह सदा प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है। प्रभु के नामों का उच्चारण इसे कामादि शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है। ८. **अनिमिषः**=यह एक पलक भी नहीं मारता। सदा जागरित-सावधान रहता है। ज़रा-सा प्रमाद किया तो वासनाओं का शिकार हुआ। ९. **एकवीरः**=इन 'प्रद्युम्न' प्रकृष्ट बलवाली वासनाओं से संग्राम करनेवाला यह अद्वितीय वीर है। १०. **इन्द्रः**=यह सब इन्द्रियों को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर उनका सच्चा अधिपति बनता है। ११. **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=और अब वासनाओं की एक साथ आई हुई सैकड़ों सेनाओं भी को जीत लेता है। अथवा **साकम्**=उस प्रभु के साथ रहनेवाला यह 'अप्रतिरथ' **शतं सेनाः अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को भी जीत लेता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बने हुए इसको कामादि की सेनाएँ पराजित नहीं कर पातीं।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित लक्षणों को अपने में विकसित करके हम सच्चे प्रभु-भक्त प्रमाणित हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—स्वाराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

युधः-नरः

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥३४॥

१. वासनाओं को जीतना अत्यन्त कठिन है। इनके साथ युद्ध करनेवाला मनुष्य सचमुच 'युधः' है। यह निरन्तर आगे बढ़ने के कारण 'नरः' है। यह अपने को एक आदर्श उपासक बनाने का प्रयत्न करता है और इस 'उपासक आत्मा' से वासनाओं का पराभव

करता है। कैसी आत्मा से? २. **संक्रन्दनेन**=सदा प्रभु का आह्वान करनेवाली आत्मा से। प्रभु के नामोच्चरण से यह अपने में शक्ति भरता है और वासनाओं को भयभीत करता है। ३. **अनिमिषेण**=कभी भी पलक न मारनेवाली, अर्थात् सदा सावधान रहनेवाली आत्मा से। प्रमाद मनुष्य को वासनाओं का शिकार बना देता है। ४. **जिष्णुना**=विजयशील आत्मा से। वस्तुतः प्रभु का आह्वान करनेवाली अप्रमत्त आत्मा कभी हार ही नहीं सकती। ५. **युत्कारेण**=युद्ध करनेवाली आत्मा से। यह वासनाओं के साथ संग्राम को कभी निरुत्साह होकर छोड़ नहीं देता। ६. **दुश्च्यवनेन**=युद्ध के निश्चय से विचलित न की जानेवाली आत्मा से। अवान्तर पराजयों से भी यह युद्ध को समाप्त नहीं कर देता (Loses battles, but wins the war.) यह अन्त में अवश्य विजयी होता है। ७. **धृष्णुना**=दुश्च्यवन होने से ही धर्षण करनेवाली आत्मा से यह युद्ध में लगा ही रहता है और अन्त में शत्रुओं को कुचल डालता है। ८. **इषुहस्तेन** =प्रेरणा को हाथ में लेनेवाली आत्मा से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाला यह बनता है। ९. **वृष्णा**=शक्तिशाली आत्मा से। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवाला अपने में शक्ति का अनुभव करता ही है। १०. हे **युधः नरः**=युद्ध करनेवाले और आगे बढ़नेवाले वीरो! **तदिन्द्रेण**=(स चासौ इन्द्रः) ऐसी आत्मा से **जयत**=तुम विजयी बनो। और **तत्**=उस वासना-समूह को **सहध्वम्**=पराभूत कर डालो।

भावार्थ—हम अपनी आत्मा को 'संक्रन्दन-अनिमिष-जिष्णु-युत्कार-दुश्च्यवन-धृष्णु-इषुहस्त व वृषण' बनाएँगे तो इस आत्मा से शत्रुओं को अवश्य पराभूत करेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रत्याहार

सऽइषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्त्रष्टा स युधऽइन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥३५॥

१. **सः**=वह 'अप्रतिरथ' अद्वितीय योद्धा **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से, अर्थात् प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हाथों से और **सः**=वह **निषङ्गिभिः**=अनासक्ति-(नि-सङ्ग)-रूप अस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ २. **वशी**=अपनी इन्द्रियों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला तथा ३. **गणेन संस्त्रष्टा**=(गण संख्याने) संख्यान व चिन्तन से सदा संसृष्ट रहनेवाला, अर्थात् सदा चिन्तनशील अथवा **गणेन संस्त्रष्टा**=सारी समाज के साथ मिलकर चलनेवाला ४. **सः युधः**=वह निरन्तर युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव ५. **संसृष्टजित्**= विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतनेवाला होता है। ६. विषयेन्द्रिय-सम्पर्क को जीतकर यह **'सोमपा'**=सोम का पान करनेवाला होता है। अपनी वीर्यशक्ति की रक्षा करता है। ७. **बाहुशर्धी**=सोम-रक्षण से यह बाहुबल से युक्त होता है (शर्धः=बलम्) इसकी भुजाओं में शक्ति होती है। ८. और यह **उग्रधन्वा**=(उग्र=उदात्त) उत्कृष्ट प्रणव—ओम्-रूप धनुष को धारण करता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=ओ३म् का ही जप करता है, ओ३म् के ही अर्थ का भावन करता है। ९. और अब यह **प्रतिहिताभिः**=(प्रत्याहृतिभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने के द्वारा **अस्ता** =कामादि शत्रुओं को सुदूर फेंकनेवाला होता है। इन्द्रियों को वापस लाता है, शत्रुओं को दूर फेंकता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम 'असङ्ग-शस्त्र' से संसार-वृक्ष का छेदन कर सकें। इन्द्रियों के प्रत्याहार से वासनाओं को दूर करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

रथों का रक्षण

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ२॥ऽअपबाधमानः।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥३६॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप रथ से **परिदीया**=(दी to shine) चमकनेवाला बन, अर्थात् तेरा यह शरीर पूर्ण स्वस्थ हो। यह स्वास्थ्य की दीप्तिवाला हो। इस स्वस्थ, चमकते हुए शरीररूप रथ से **परिदीया**=तू आकाश में उड़नेवाला बन (दी to soar), अर्थात् तेरी गति सदा उन्नति की दिशा में हो। उन्नति करते हुए तूने ऊर्ध्वा दिक् का, सर्वोच्च स्थिति का अधिपति बनना है। २. इस उन्नति को स्थिर रखने के लिए तू **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। इसी उद्देश्य से तू '**अमित्रान्**'=अस्नेह व द्वेष की भावनाओं को **अपबाधमानः**=अपने से सदा दूर रखनेवाला हो। ईर्ष्या तो तेरे मन को मृत कर देगी फिर तू क्या उन्नति कर पाएगा? अतः इसे तो पास फटकने ही नहीं देना। ३. **सेनाः**=वासनाओं की सेनाओं को **प्रभञ्जन्**=प्रकर्षेण पराजित करता हुआ तू **प्रमृणः**=इनको कुचल डाल। ४. इस प्रकार **युधा**=इन वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **जयन्**=इनको पराजित करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारे (प्रभु से) दिये हुए इन **रथानाम्**=स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीररूप रथों का **अविता**=रक्षा करनेवाला **एधि**=हो। यह ध्यान रखना कि लोभ तेरे आनन्दमयकोश व शरीर को विकृत कर देगा। क्रोध तेरे सूक्ष्मशरीर (बुद्धि, मन) का नाशक होता है और काम इस स्थूलशरीर को जीर्ण कर देता है। इन शत्रुओं के आक्रमण से तूने हमारे दिये हुए इन रथों की रक्षा करनी है।

भावार्थ—हम अपने शरीररूप रथों से चमकें, उन्नति करनेवाले बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

जैत्र रथाधिष्ठान=रथारोहण

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमानऽउग्रः।
अभिवीरोऽअभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित्॥३७॥

१. अप्रतिरथ वह है जो **बलविज्ञायः**=अपने बल के कारण प्रसिद्ध है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति=स्थितप्रज्ञ है, विषयों से डाँवाँडोल होनेवाला नहीं है। ३. **प्रवीरः**=प्रकृष्ट वीर है, यह वैषयिक वृत्तियों को विशेषरूपेण कम्पित करनेवाला है (विशेषेण ईरयति) ४. **सहस्वान्**=सहन-शक्तिवाला है। लोगों की अभिशस्तियों (गालियों) से तैश में आजानेवाला नहीं। ५. **वाजी**=बलवाला है अथवा त्याग-वृत्तिवाला है (वाज=Sacrifice) ६. **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है अथवा सर्दी-गर्मी आदि को सहने की शक्तिवाला है। ७. **उग्रः**=तेजस्वी है ८. **अभिवीरः**=वीरता की ओर चलनेवाला है और **अभिसत्वा**=सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला है। यह वीरता व ज्ञान (सत्त्वस्य लक्षणं ज्ञानम्) का समन्वय करता है। ९. **सहोजाः** =यह प्रभु के साथ सम्पर्क के कारण ओजस्वी होता है। १०. हे **इन्द्र**= इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू ऐसा बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील रथ पर आरोहण कर, अर्थात् तू कभी वासनाओं से पराजित न हो। इसी अपराजय के लिए तू ११. **गोवित्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला बन। जब तुझमें वीरता व ज्ञान का समन्वय होगा तभी तेरी

निश्चित विजय होगी। १२. यहाँ मन्त्र का प्रारम्भ 'बलविज्ञायः' से है और समाप्ति 'गोवित्' पर है। वस्तुतः हमें 'बल वं ज्ञान' दोनों का ही सम्पादन करना है। यही भावना 'अभिवीरः व अभिसत्वा' शब्द भी दे रहे हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में बल और ज्ञान का समन्वय करके विजयी बनें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—भुरिगार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

लोभ का विदारण

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्मं प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳसजाताऽअनु वीरयध्वमिन्द्रꣳसखायोऽअनु सꣳरभध्वम्॥३८॥

१. प्रभु कहते हैं—हे **सजाताः**=समान जन्मवाले जीवो! **इमम्**=इस इन्द्र के **अनु-वीरयध्वम्**=अनुसार तुम भी वीरतापूर्ण कर्म करो। उस इन्द्र के अनुसार जो **गोत्रभिदम्**=(गोत्र=wealth) धन का विदारण करनेवाला है, अर्थात् हिरण्मयपात्र से डाले जानेवाले आवरण को सुदूर नष्ट करनेवाला है। २. **गोविदम्**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। धन के लोभ को दूर करके ही ज्ञान प्राप्त होता है। ३. **वज्रबाहुम्**=जिसकी बाहु में वज्र है। 'वज गतौ' से वज्र शब्द बना है और 'बाह्र प्रयत्ने' से बाहु, अतः 'वज्रबाहु' शब्द की भावना यह है कि जो अपने प्रयत्नों में सदा गतिशील है, अपने प्रयत्नों को कभी ढीला नहीं करता, ४. इसलिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाला है। वासना-संग्राम क्रियाशीलता से ही जीता जाता है। ५. **ओजसा प्रमृणन्तम्**=क्रियाशीलता से प्राप्त हुई ओजस्विता से यह शत्रुओं को कुचल डालता है। ६. वस्तुतः इन्द्र वही है जो उल्लिखित पाँच विशेषणों से युक्त है। जन्म लेनेवालों को चाहिए कि **अनुवीरयध्वम्**=वे भी इन्द्र के समान ही वीर बनें और संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें। ७. प्रभु कहते हैं कि **सखायाः**=इन्द्र के समान ख्यान, ज्ञान व नामवाले जीवो! **अनु**=इस इन्द्र के अनुसार ही तुम सब भी **संरभध्वम्**=बहादुर बनो। इन्द्र की भाँति तुम भी असुरों का संहार करनेवाले होओ। इन्द्र बनकर धन के लोभ से ऊपर उठो।

भावार्थ—इन्द्र बनकर हम धन के लोभ का विदारण करें। ज्ञानी बनकर इस अध्यात्म-संग्राम में शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳसेना अवतु प्र युत्सु॥३९॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपनी शक्ति से, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, अर्थात् सुपथों से कमाता हुआ **अदयः**=(देङ् रक्षणे) उनको अपने पास रखनेवाला नहीं होता। कमाता है पर जोड़ता नहीं, उन धनों को दे डालता है। अपने पुरुषार्थ से इतना कमाता है कि धन में लोटता है (rolls in wealth) पर अनासक्ति के कारण उनका दान कर देता है। यह इन्द्र धन को अपने पास न रखकर ही इन्द्र बना रहता है। यह अपनी शक्ति को खोता नहीं, धनासक्ति व्यक्ति को क्षीण-शक्ति कर देती है, 'कुबेर' बना देती है, कुत्सित शरीरवाला। २. **वीरः**=यह दानवीर इन्द्र धन के दान के कारण सचमुच वीर=शक्तिशाली बना रहता है।

३. **शतमन्युः**=अपने धनों से वह शतशः यज्ञों का करनेवाला होता है। ३. **दुश्च्यवनः**=इसे यज्ञमार्ग से कोई भी बात गिरा नहीं पाती। वस्तुतः धन का लोभ ही इस यज्ञिय मार्ग से विचलित कर सकता था। उसे छोड़कर यह दृढ़ता से यज्ञिय मार्ग पर चल रहा है। ४. **पृतनाषाट्**=इस यज्ञ-मार्ग पर चलते हुए यह काम-क्रोध आदि को संग्राम में पराभूत करनेवाला होता है (पृतनां संग्रामं सहते) ५. **अयुध्यः**=काम-क्रोधादि इसके प्रतियोद्धा नहीं बन पाते। (नास्ति युध्यः अस्य) ६. यह अयुध्य इन्द्र **अस्माकम्**=हमारी दिव्य गुणों की **सेनाः**=सेनाओं को **प्रयुत्सु**=इन प्रकृष्ट आध्यात्मिक संग्रामों में **अवतु**=सुरक्षित करे। काम-क्रोधादि का पराजय होकर, प्रेम व मित्रता का विकास हो।

भावार्थ—हम धनों का अवगाहन करें, परन्तु उनमें ही आसक्त न हो जाएँ। हममें दिव्य गुणों का विकास हो। लोभ ही दिव्य गुणरूप पुरुषों के लिए तुहिनरूप होता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवसेना

इन्द्रऽआसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुरऽएतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥४०॥

१. पिछले मन्त्र में देव-सेनाओं की रक्षा का उल्लेख हुआ है। **देवसेनानाम्**=इन देव-सेनाओं के **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुर सेनाओं का विदारण कर रही हैं, **जयन्तीनाम्**=और असुरों पर विजय पाती चलती हैं, उन देव-सेनाओं के **अग्रम्**=आगे **मरुतः**=प्राण **यन्तु**=चलें। स्पष्ट है कि ये देव-सेनाएँ प्राणों के पीछे चलती हैं। प्राण-साधना ही इस देवसेना को जन्म देती है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोषक्षीण होते हैं, मन का मैल नष्ट होता है और आसुर वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। एवं, स्पष्ट है कि देवसेनाओं के आगे मरुत् चलते हैं। **इन्द्रः आसां नेता**=इन विजयशील देवसेनाओं का सेनापति इन्द्र है। **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, हृषीकेश है, हृषीक=इन्द्रियों का ईश। यह इन्द्र ही तो देवराट् है। यदि जीभ ने चाहा और हमने खाया तब तो धीरे-धीरे हम इन इन्द्रियों के दास ही बन जाएँगे। हम इन्द्र बनकर देवसेनाओं के सेनापति बनें। ३. इस देवसेना के **पुरः**=आगे **एतु** =ये व्यक्ति चलें। कौन? (क) **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति ज्ञान का स्वामी, देवताओं का गुरु—ज्ञानियों का भी ज्ञानी। दिव्य गुणों में ज्ञान का सर्वोच्च स्थान है। ज्ञानाग्नि कामादि वासनाओं को भस्म कर देती है। (ख) **दक्षिणा** =दान। यह दान लोभ का नाश करता है। लोभ व्यसनवृक्ष का मूल है, अतः देव सदा देते हैं (देवो दानात्) (ग) **यज्ञः**=दिव्य गुणों में प्रथम स्थान ज्ञान का, दूसरा दान का तथा तीसरा स्थान यज्ञ का है। ये यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म हैं। देव सदा 'हविर्भुक्' होते हुए यज्ञशील बनते हैं। (घ) **सोमः**=चौथा देव सोम है, सौम्यता। सारे दिव्य गुणों के होने पर भी यदि यह सौम्यता न हो तो सब दिव्य गुण अदिव्य बन जाते हैं। दैवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष 'नातिमानिता' में ही तो है। सोम की भावना 'वीर्य-शक्ति' भी है। मनुष्य ने देव बनने के लिए इस वीर्य-शक्ति की रक्षा करके सोम का पुञ्ज बनना है। सोमशक्ति की रक्षा ही 'ब्रह्मचर्य' है, यही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम प्राण-साधना करें, जिससे हममें दिव्य गुणों का विकास हो। इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर हम देवसेनाओं के सेनापति बनें। हमारे जीवन में 'ज्ञान-दान-यज्ञ-सौम्यता व सोमरक्षा' को महत्त्व प्राप्त हो।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

जयघोष

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञऽआदित्यानां मरुतां शर्द्धऽउग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात्॥४१॥

१. गत मन्त्र की विजयशील देवसेनाओं के जयघोष का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली व औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता इस इन्द्र का तथा २. **वरुणस्य राज्ञः**=अति नियमित जीवनवाले (well regulated) वरुण का, जिसने कि सब बुराइयों का वारण किया है ३. तथा, **आदित्यानां मरुताम्**=अपने अन्दर निरन्तर उत्तमताओं का ग्रहण करनेवाले (आदानात् आदित्यः) प्राणसाधक मरुतों का (मरुतः प्राणाः) **शर्द्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उत्कृष्ट व तीव्र होता है। ४. इन्द्र, वरुण व आदित्य ही देवताओं के महारथी हैं। 'जितेन्द्रिय बनना, बुराइयों को रोकना, तथा अच्छाइयों को अपने अन्दर लेते चलना' ये ही बातें हैं जो हममें दैवी सम्पत्ति का वर्धन करेंगी। ५. इन महारथियों का अनुगमन करनेवाले **महामनसाम्**=विशाल व उदार मनवाले **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग कर देनेवाले, अर्थात् लोकहित के लिए अपने जीवन (भुवन) का भी त्याग कर सकनेवाले **जयताम्**=सदा विजयी बननेवाले **देवानाम्**=देवताओं का, दैवी सम्पत्ति के प्रार्जयिता पुरुषों का **घोषः**=विजयघोष **उदस्थात्**=हमारे जीवनों से सदा उठे। ६. यहाँ प्रसङ्गवश विशेषणों के रूप मे कही गई ये दो बातें ध्यान देने योग्य हैं कि देव 'विशाल मनवाले' तथा 'अधिक-से-अधिक कल्याण करनेवाले' होते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, वरुण व आदित्य' बनने का प्रयत्न करें। विशाल हृदयवाले हों, अधिक-से-अधिक त्याग की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आयुध-दीपन

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि।
उद् वृत्रहन्वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः॥४२॥

१. विजय के लिए अस्त्रों का ठीक होना अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म संग्राम के अस्त्र—'शरीररूप रथ, इन्द्रिरूप घोड़े तथा बुद्धिरूपी सारथि जिसने कि मनरूप लगाम को पूर्णरूप से हाथ में ग्रहण किया हुआ है'—ही तो हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि २. हे **मघवन्**=उच्च ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले व (मा+अघ) पापरूप मैल को दूर रखनेवाले **वृत्रहन्**=सब प्रकार की वासनाओं का विनाश करनेवाले 'अप्रतिरथ'! तू **आयुधानि**=इन शरीर, इन्द्रियादिक आयुधों को **उद्हर्षय**=खूब दीप्त करनेवाला बन। ३. प्रभु जीव से कहते हैं कि **मामकानाम्**=जो मेरे बने रहते हैं, अर्थात् प्रकृति के भोगों में नहीं फँस जाते उन **सत्वनाम्**=सत्त्वगुण प्रधान मेरे भक्तों के **मनांसि**='मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' **उत्**=उत्कृष्ट बनें। वस्तुतः मनों के उत्कर्ष का मार्ग प्रभु-भक्त बने रहना ही है। इसके उपासक का हृदय वासनाक्रान्त नहीं होता। ४. हे **वृत्रहन्**=वासना का हनन करनेवाले जीव! **वाजिनाम्**=तेरे इन्द्रियरूप घोड़ों के **वाजिनानि**=वेग व बल **उत्**=उत्कृष्ट हों। वृत्र ही इन इन्द्रियरूप घोड़ों के वेग का विनाशक है। वासना इन्हें क्षीण-शक्ति कर देती है। ५. आगे बढ़ते हुए **जयताम्**=विजयशील बनते हुए **रथानाम्**=शरीररूप रथों के **घोषाः**=विजयघोष

उत्=ऊपर उठें। ये शरीररूप रथ पूर्ण स्वस्थ हों, जिससे जीवन-यात्रा अधूरी न रह जाए।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में विजय के लिए हमारे मन, इन्द्रिय व शरीररूप सब आयुध ठीक हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आस्तिक मनोवृत्ति

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्माँ२॥ऽउ देवाऽअवता हवेषु॥४३॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं व पताकाओं के ठीकरूप से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का नियामक **इन्द्रः**=परमात्मा हो, अर्थात् हम प्रभु को अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है जब हम एक लक्ष्य बनालें तब प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। संसार में प्रभु का आश्रय मनुष्य को कभी निरुत्साहित नहीं होने देता। आस्तिक मनुष्य सदा प्रभु को अपनाता है और किसी प्रकार से निरुत्साहित न होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चलता है। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक्य वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश हैं **ताः**=वे निर्देश और प्रेरणाएँ ही **जयन्तु**=जीतें। प्रभु की प्रेरणा होती है कि 'उषःकाल हो गया, उठ बैठ क्या सो रहा है?' उसी समय एक इच्छा पैदा होती है कि 'कितनी मधुर वायु चल रही है, रात को नींद भी तो पूरी नहीं आई। दिन में अलसाते रहोगे, ज़रा सो ही लो।' सामान्यतः यह इच्छा उस प्रेरणा को दबा देती है और मनुष्य सोया रह जाता है। हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपकी प्रेरणाए ही विजयी हों, हमारी इच्छाएँ नहीं। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों में **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ, न कि कायरता की वृत्ति **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों, प्रबल हों। दबकर कोई कार्य करना मनुष्यत्व से गिरना है। हमारे कार्य वीरता का परिचय दें। ४. **देवाः**=हे देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=(आहवेषु) संग्रामों में **उ**=निश्चय से **अवत**=रक्षित करो। देव हमारे रक्षक हों। वस्तुतः (क) जब हम प्रभु में पूर्ण आस्था से चलेंगे, (ख) सदा अन्तःस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे, (ग) सदा वीरता के ही कार्य करेंगे तब देवताओं की रक्षा के पात्र क्यों न होंगे?

भावार्थ—१. जीवन-लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। २. हमारे जीवन में हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा की विजय हो, न कि हमारी इच्छा की। ३. हम सदा वीरतापूर्ण कार्य ही करें और ४. हम सदा अध्यात्म-संग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

लोभ का परिणाम

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम्॥४४॥

१. लोभ की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र है (क) यह कम-से-कम प्रयत्न से अधिक-से-अधिक लेना चाहती है। (ख) यह प्रवृत्ति आवश्यकता को नहीं देखती। इससे धन के प्रति एक प्रेम-सा होता है जिसके कारण लोभी किसी अन्य बन्धु-बान्धव या प्राणी से प्रेम नहीं कर पाता। २. इतना ही नहीं यह किसी अन्य की सम्पत्ति को देखकर जलता है। एवं, लोभ

ईर्ष्या का जनक होता है। मन्त्र में कहते हैं कि **अप्वे**=हे (आप्=प्राप्त करना) अधिक-और-अधिक प्राप्त करने की इच्छा ! तू **अमीषाम्**=इन तेरे शिकार बने हुए लोगों के **चित्तम्** =चित्त को **प्रतिलोभयन्ती**=प्रत्येक ऐश्वर्य के प्रति लुब्ध करती हुई **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों को जकड़ ले, इनको अपने वश में कर ले। लोभाविष्ट हुआ मनुष्य इस प्रकार धन का दास बन जाता है कि उसे धन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। यह धन के लिए अपने आराम को समाप्त कर देता है। यह धन के लिए अपने बन्धुत्व की बलि दे देता है, आत्मा-परमात्मा के स्मरण का तो प्रश्न ही नहीं रहता। एक ही इच्छा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को जकड़े रखती है और वह है 'धन की इच्छा।' २. यह धन की इच्छा हमारा तो पीछा छोड़ दे। हे अप्वे ! **परा इहि**=तू हमसे परे जा। ३. जो **अमित्राः**=किसी से स्नेह न करनेवाले लोग हैं उनको **अभि प्र इहि**=लक्ष्य करके तू खूब गतिशील हो, अर्थात् उनको तू प्राप्त कर। ४. उनको ही तू **हृत्सु**=हृदयों में **शोकैः**=शोकाग्नियों से **निर्दह**=नितरां जलानेवाली बन। लोभी, ईर्ष्यालु पुरुषों के ही मन जलते रहें। हे अप्वे ! हमपर तो तू कृपा कर और हमें जलानेवाली न हो। ५. **अमित्रः**=प्राणियों के प्रति स्नेहशून्य हृदयवाले लोग ही **अन्धेन तमसा**=इस अन्धी इच्छा से **सचन्ताम्**=संयुक्त हों। लोभ के कारण आवश्यकता से अधिक धन की इच्छा अन्धी तो है ही। यह साध्य व साधन का विचार न करती हुई साधन को ही साध्य समझ लेती है और परिणामतः धन की ही उपासना करने लगती है। अर्थसक्त को मनु के शब्दों मे 'धर्मज्ञान' नहीं हो पाता, अतः हे अप्वे ! धनाहरणाभिलाष ! तू कृपा करके हमसे दूर रह।

भावार्थ—हम लोभ की भावना से ऊपर उठें, जिससे हृदयों में शोकाग्नि से सन्तप्त न होते रहें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इषुः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

लक्ष्य दृष्टि

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥४५॥

१. संसार में न फँसने व निरन्तर आगे और आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने सामने एक लक्ष्य (ध्येय) रखे। लक्ष्य ओझल हुआ और मनुष्य भटका। यह लक्ष्य ही 'शरव्या' है। २. यह लक्ष्य बड़ा सोच-समझकर बनाया जाना चाहिए। मन्त्र में कहते हैं कि यह 'ब्रह्मसंशित' हो, ज्ञान से तीव्र बनाया जाए। हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र बनाये गये **शरव्ये**=लक्ष्य ! तू **अवसृष्टा** (अवसृज् to make, create)=हमारे जीवनों से उत्पन्न होकर **परापत**=खूब दूर बढ़ चल। लक्ष्य के सदा सामने होने पर हमारी तीव्र गति व शीघ्र प्रगति क्यों न होगी? लक्ष्य का न होना अथवा लक्ष्य का भूला हुआ होने के कारण ही प्रगति रुकी रहती है। ३. लक्ष्य का संकेत उत्तरार्ध में इस प्रकार करते हैं कि **गच्छ**=तू जा **अमित्रान्**=स्नेह न करने की भावना को, ईर्ष्या-द्वेषादि की भावना को, औरों से जलने की भावना को **प्रद्यस्व**=विशेषरूप से आक्रान्त कर। **मामीषाम्** =इन द्वेषादि की निकृष्ट भावनाओं में से **कञ्चन**=किसी को **न उच्छिषः**=शेष मत छोड़। इन भावनाओं में से एक-एक को ढूँढकर तू समाप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—१. हमारा जीवन लक्ष्य-दृष्टि से शून्य न हो। २. हम द्वेषादि की भावना को समूल नष्ट कर दें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—योद्धाः। छन्दः—विराडार्ष्यनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

प्रेत जयत=आगे बढ़ो, जीतो

प्रेता जयता नरऽइन्द्रो वः शर्म यच्छतु।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥४६॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार हमारे जीवन का लक्ष्य बनता है 'वासनाओं का समूल उन्मूलन'। यह वासनाओं का उन्मूलन करनेवाला व्यक्ति 'न रम्' है, 'न रम्'=न फँस जानेवाला। प्रभु कहते हैं कि हे **नराः**=(नृ नये) अपने को आगे ले-चलनेवाले मनुष्यो! **प्रेत**=आगे बढ़ो। वासनाएँ तुम्हारी उन्नति को विहत न कर दें। **जयत**=इन वासनाओं को जीतनेवाले बनो। इनको जीते बिना यात्रा की पूर्ति सम्भव नहीं। २. **इन्द्रः**=शक्ति के सब कार्यों को करनेवाला वह प्रभु **वः**=तुम्हें इन वासनाओं के संहार के द्वारा **शर्म**=कल्याण **यच्छतु**=प्राप्त कराए। वासनाओं से होनेवाले विनाश से प्रभु ही तुम्हें बचाएँगे। ३. **वः बाहवः**=तुम्हारी भुजाएँ **उग्रः**=तेजस्वी हों। 'बाह प्रयत्ने'=तुम्हारे प्रयत्न भी बड़े उग्र होने चाहिएँ, क्योंकि इन वासनाओं का विनाश कोई सुगम कार्य नहीं है। प्रभु की सहायता के बिना इन्हें तुम जीत ही न सकोगे और 'उत्तम प्रयत्नों में लगे रहना' यह वासना-विजय के लिए आवश्यक है। ४. इसी से मन्त्र में कहते हैं कि सदा उत्तम प्रयत्नों में लगे रहो **यथा**=जिससे **अनाधृष्याः**=वासनाओं से न धर्षण के योग्य **असथ**=हो सको। काम में न लगे हुए व्यक्तियों को ही वासनाएँ सताती हैं। क्रियाशील का ये धर्षण नहीं कर पातीं।

भावार्थ—हम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ें, विघ्नों को जीतें। प्रयत्न में लगे रहें, जिससे वासनाओं का शिकार न हों। प्रयत्न में लगे हुए को प्रभु भी कल्याण प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—मरुतः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

वासना-विजय

असौ या सेना मरुतः परेषाम्भ्यैति नऽओजसा स्पर्द्धमाना।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामीऽअन्योऽअन्यन्न जानन्॥४७॥

१. **असौ**=वह **या**=जो **परेषाम्**=पराये, अर्थात् शत्रुभूत कामादि की सेना **स्पर्द्धमाना**=परस्पर स्पर्द्धा-सी करती हुई **नः ओजसा अभ्येति**=हमारी ओर प्रबलता से आती है, हमपर आक्रमण कर देती है। **ताम्**=उस शत्रुसैन्य को **अपव्रतेन तमसा**=(अप=away) दूर फेंकने के व्रत की इच्छा से **गूहत**=संवृत कर दो, उसे अपने तक न आने दो। २. हम इन्हें अपने से इस प्रकार दूर भगा दें **यथा**=जिससे **अमी अन्यः**=इनमें से एक **अन्यम्**=दूसरे को **न जानन्**=न जान सकें। समान्यतः लोभ से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध और इस प्रकार ये 'काम, क्रोध, लोभ' एक-दूसरे को बढ़ाते हुए, परस्पर स्पर्द्धा-सी करते हुए अर्थात् एक-दूसरे से अधिक प्रबल आक्रमण की कामनावाले होकर हमें आक्रान्त करते हैं। ३. हमने 'अपव्रत तमस्' के द्वारा इन्हें अपने तक नहीं आने देना। हमारा यह दृढ़ निश्चय हो कि 'हम लोभ न करेंगे' काम के वश में न होंगे, क्रोध को प्रबल न होने देंगे।

भावार्थ—वासनाओं के त्याग के दृढ़ निश्चय से ही हम वासनाओं को जीत सकेंगे।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—इन्द्रबृहस्पत्यादयः। छन्दः—पंक्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

बाणों का सम्पतन

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखाऽइव।
तत्रऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु॥४८॥

१. **यत्र**=जहाँ, अर्थात् जिस स्थान से **बाणाः**=(शरो ह्यात्मा) प्रणवरूप धनुष के शर बने हुए आत्मा, निरन्तर प्रणव-जप में लगे आत्मा अथवा 'वण् to sound' प्रभु के नाम का निरन्तर जप करनेवाले आत्मा **सम्पतन्ति**=सम्यक् गतिशील होते हैं और अपने को सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रखते हैं, इसीलिए २. **कुमाराः**=कामादि वासनाओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाले होते हैं ३. **विशिखा इव**=ये आत्मा प्रतिज्ञापूर्ति तक अपनी शिखा के न बाँधने का निश्चय किये हुए विशिख-से प्रतीत होते हैं, अथवा ये ज्ञानाग्नि की विशिष्ट ज्वालाओंवाले बनते हैं। ४. **तत्**=तब **नः**=हमें **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान का स्वामी परमात्मा **अदितिः**=जिसकी उपासना से खण्डन का भय ही नहीं रहता वह प्रभु **शर्म यच्छतु**=कल्याण व सुख प्राप्त कराये। **विश्वाहा शर्म यच्छतु**=यह हमें सदा सुख प्राप्त कराए। ५. वस्तुतः सुख-प्राप्ति का साधन 'इन्द्र, बृहस्पति, व अदिति' शब्द से सूचित हुआ है। 'हम जितेन्द्रिय बनें, ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानी बनें, तथा अपने मनों को वासनाओं से खण्डित न होने दें' तभी कल्याण होगा। जितेन्द्रियता से इन्द्रियों का शोधन करके, ज्ञान से बुद्धि को पवित्र करके तथा वासना-खण्डन से निर्मल मन होकर ही हम सदा कल्याण मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं। ६. साथ ही हम (क) **बाणाः**=प्रभु-स्तवन में रत रहें। (ख) **सम्पतन्ति**=सम्यक् क्रियाशील हों। (ग) **कुमाराः**=वासनाओं को कुचलनेवाले बनें। (घ) **विशिखा इव**=वासना-विनाश के लिए बद्ध-प्रतिज्ञ हों तथा विशिष्ट ज्ञान-ज्वालाओं को अपने में दीप्त करें।

भावार्थ—हम बाण हों, प्रभु लक्ष्य हों। हम शर की भाँति ब्रह्मरूप लक्ष्य में तन्मय हो जाएँ। यही कल्याण-प्राप्ति का साधन है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—सोमवरुणदेवाः। **छन्दः**—आर्चीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

वर्म (कवच) छादन

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु॥४९॥

१. इस वासना-संग्राम में **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा**=कवच से **छादयामि**=आच्छादित करता हूँ। 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इस मन्त्र में 'ब्रह्म' (ज्ञान) ही आन्तर कवच है। इस ज्ञानरूप कवच को पहन लेने पर वासनाओं के आक्रमण का भय जाता रहता है। इस ज्ञानरूप कवच पर टकरा कर वासना-शर टूट जाते हैं और हमारे हृदय-मर्म को विद्ध नहीं कर पाते। २. **त्वा**=तुझे **राजा**=स्वास्थ्य के द्वारा शरीर की दीप्ति देनेवाला **सोमः**=वीर्य **अमृतेन**=रोगों के अभाव से **अनु वस्ताम्**=अनुकूलता से आच्छादित करे। वासना-शरों से हृदय के विद्ध न होने पर शरीर में सोम सुरक्षित रहता है और यह सुरक्षित सोम हमारे शरीरों को रोगाक्रान्त नहीं होने देता। ३. अब **वरुणः**=शरीर से रोगों को निवारण करनेवाली तथा मनों से द्वेष का दूरीकरण करनेवाली देवता **ते**=तुझे व तेरे हृदय को **उरोर्वरीयः**=विशाल से भी विशाल **कृणोतु**=करे, तेरे हृदय को विशाल बनाए। ईर्ष्या-द्वेषादि की भावनाएँ मन को संकुचित करती हैं। साथ ही रोग भी मनुष्य को खिझनेवाला व असहिष्णु बना देते हैं। ४. इस प्रकार द्वेषादि का निवारण करनेवाले **जयन्तम्**=शत्रुओं को जीतनेवाले **त्वा**=तुझे **देवाः अनुमदन्तु**=सब देव हर्षित करें। तेरे अन्दर दिव्य गुणों का विकास हो और ये दिव्य गुण तेरे मनःप्रसाद का कारण बनें।

भावार्थ—१. हम ज्ञान के कवच को धारण कर वासना-शरों से अभेद्य हों। २.

वीर्य-रक्षा से शरीर को नीरोग बनाएँ। ३. द्वेष-निवारण से हमारा हृदय विशाल हो। ४. दिव्य गुण हमारे जीवन को आनन्द-मय बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उत्कर्ष की प्राप्ति

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत।
रायस्पोषेण सꣳसृज प्रजया च बहुं कृधि॥५०॥

१. **एनम्**=गत मन्त्र के अनुसार ब्रह्मरूप कवच के धारण करनेवाले और सोम-रक्षा से अपने को अमर बनानेवाले को **उत्**=इन प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठाकर (उत्=out) **उत्तराम्**=(अतिशयेन उत्=उत्तराम्) उत्कृष्टत्व को, उत्कृष्ट ऐश्वर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। २. **अग्ने**=सब उत्कर्षों के प्रापक हे प्रभो। **घृतेन**=मलों के क्षरण (घृ=क्षरण) व ज्ञान की दीप्ति से **आहुत** (हूयमान)=जिसके प्रति अपना अर्पण किया गया है, ऐसे प्रभो! आप इस 'ब्रह्म-कवची, सोम-रक्षक' को उत्कर्ष की ओर ले-चलिए। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का अभिप्राय है—'अपने जीवन में से मलों को दूर करना और ज्ञान को खूब दीप्त करना'। निर्मल व ज्ञानी बनकर हम प्रभु के सच्चे उपासक बनते हैं। प्रभु का सच्चा उपासक बनने पर वे प्रभु हमारा उद्धार करते हैं। हम प्रकृति के हीन भोगों से ऊपर उठकर उत्कृष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। ३. हे प्रभो! आप इस उपासक को **रायस्पोषेण संसृज**=संसार-यात्रा को चलाने के लिए आवश्यक धन के पोषण से संसृष्ट कीजिए। यह इतना धन अवश्य प्राप्त करे कि परिवार को, अपने को तथा आये-गये को उत्तमता से पाल सके और सामाजिक कार्यों में भी उचित सहयोग दे पाये ४. **च**=और हे प्रभो! आप इस आपकी शरण में आये हुए को **प्रजया**=उत्तम सन्तान से **बहुम्**=(बृंहते वर्धते) खूब वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ, समाज में बढ़े हुए नामवाला, अर्थात् यशस्वी **कृधि**=कीजिए। इसकी सन्तान ऐसी उत्तम हो कि इसका यश चारों ओर फैले। यह यशस्वी सन्तानवाला हो।

भावार्थ—१. प्रभु को अपना कवच बनानेवाला व्यक्ति वासनाओं को जीतकर उत्कर्ष प्राप्त करता है। २. उत्तम धन का संचय करनेवाला होता है। ३. और अपनी सन्तान से यशस्वी बनता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वशित्व

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजातानामसद्वशी।
समेनं वर्चसा सृज देवानां भागदाऽअसत्॥५१॥

१. हे **इन्द्र**=सम्पूर्ण शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस अपने उपासक को **प्रतरां नय**=(अतिप्रकर्षः प्रतराम्) प्रकृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। यह प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठकर ब्रह्मदर्शन का आनन्द प्राप्त करनेवाला हो। बाह्य समृद्धि के स्थान में यह आत्म-सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाला बने। २. **सजातानाम्**=अपने साथ ही उत्पन्न हुए-हुए काम, क्रोध, लोभ आदि भावों का यह **वशी**=वश में करनेवाला हो; अर्थात् कामादि की प्रबलता न होने देकर यह उनका उचित प्रयोग करनेवाला बने। इसका काम (चाह) इसके वेदाध्ययन का कारण बने। इसका क्रोध बुराई को दूर भगाने के लिए हो। इसका लोभ अधिक-से-अधिक यज्ञों के कर सकने का हो, इन यज्ञों के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के लिए इसमें

प्रबल तृष्णा—पिपासा हो। ३. इस प्रकार **एनम्**=कामादि को वशीभूत करनेवाले इसे **वर्चसा**=वर्चस्=शक्ति से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए। कामादि वासनाएँ ही इसकी शक्ति को क्षीण करनेवाली थीं। उनको वश में करके यह शक्ति को पूर्णरूप से सुरक्षित कर सका है। ४. शक्तिशाली बनकर यह **देवानाम्**=देवों का **भागदा**=अंश को देनेवाला **असत्**=हो। देवांश को अलग करके यह सदा यज्ञशेष को खानेवाला हो।

भावार्थ—१. हम उत्कृष्ट अध्यात्म-सम्पत्ति को प्राप्त करें। २. काम, क्रोध आदि सहज भावों को वशीभूत करनेवाले हों। ३. 'अक्षीण वर्चस्' बनें। ४. यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अतिथियज्ञ

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्द्धया त्वम्।
तस्मै देवाऽअधि ब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः॥५२॥

१ गत मन्त्र की समाप्ति 'देवानां भागदा असत्' शब्दों पर हुई है। यह 'अप्रतिरथ' लोभादि में नहीं फँसता और देवांश को सदा अलग करनेवाला होता है। ये देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कुर्मः**=हम हवि का सेवन करते हैं, अर्थात् यज्ञ करके यज्ञशेष के रूप से भोजनादि करते हैं **तम्**=उस यजमान को **त्वम् वर्द्धय**=आप बढ़ाइए। वह शरीर, मन व बुद्धि तीनों के दृष्टिकोण से उन्नति करनेवाला हो। २. **तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः** =समय-समय पर आनेवाले सब विद्वान् **अधि ब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें। देवता तो इसे उपदेश दें ही, **च** =और **अयं ब्रह्मणस्पतिः**=यह ज्ञान का पति परमात्मा हृदयस्थरूपेण इसे सदा प्रेरणा प्राप्त कराए। इस अतिथियज्ञ करनेवाले व्यक्ति को विद्वान् अतिथियों से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती है और इसे प्रभु की प्रेरणा सुनने की शक्ति भी मिलती है।

भावार्थ—जिस घर में विद्वान् अतिथि आते रहते हैं, उसे सदा उत्तम उपदेश मिलता है और यह 'शुद्ध हृदय' होकर प्रभु की प्रेरणा को भी सुन पाता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

सुप्रतीको विभावसुः

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः।
स नो भव शिवस्त्वꣳसुप्रतीको विभावसुः॥५३॥

१. गत मन्त्र से '**तस्मै**=उस अतिथियज्ञ करनेवाले के लिए **देवाः**=विद्वान् लोग **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश दें' ऐसा कहा था। उसी भावना को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **विश्वेदेवाः**=सब विद्वान् **चित्तिभिः**=ज्ञान के द्वारा **उ**=निश्चय से **उद् भरन्तु**=(ऊर्ध्वं धारयन्तु) ऊपर धारण करें। तुझे विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त हो। वे विद्वान् तुझे ज्ञान देनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा तुझे वासनाओं से ऊपर उठाकर उत्कृष्ट अध्यात्म मार्ग में धारण करें। २. **सः त्वम्**=वह तू **नः**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी प्राप्ति के लिए **शिवः भव**=कल्याण करनेवाला बन। कम-से-कम तू किसी की हानि करनेवाला न हो। ३. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरे चेहरे पर क्रोध के कारण सदा त्योरियाँ न चढ़ी रहें। ४. **विभावसुः**=तू सदा (विविधासु भासु वसति—द०) नाना प्रकार के विज्ञानों

में निवास करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन ज्ञान-प्रधान हो।

भावार्थ—१. देवता तुझे ज्ञान के द्वारा विषय-वासनाओं से ऊपर उठाएँ। २. तू सबका कल्याण करनेवाला हो। ३. तेरा मुख मुस्कराहट से युक्त, अतएव सुन्दर हो। ४. विविध विज्ञानों में तू निवास करनेवाला बने।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—दिक्। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अमति-दुर्मतिबाधनम्

पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरपाममतिं दुर्मतिं बाधमानाः।
रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषेऽअधि यज्ञोऽअस्थात्॥५४॥

१. वैदिक साहित्य में राष्ट्र को पाँच भागों में बाँटा है। 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची तथा ऊर्ध्व' इन पाँच दिशाओं के दृष्टिकोण से उनमें रहनेवाले लोगों को भी 'पञ्च दिशः' कहा गया है। इन पाँचों दिशाओं में रहनेवाले लोग **देवीः**=उस देव के उपासक हैं। ये प्रभु की उपासक प्रजाएँ **यज्ञम् अवन्तु**=यज्ञ की रक्षा करें। इनका जीवन यज्ञमय हो। २. **देवीः**=ये ज्ञान के प्रकाशवाली दिव्य गुणसम्पन्न प्रजाएँ **अमतिम्**=अमनन व अज्ञान को, अर्थात् तमोगुण को तथा **दुर्मतिम्**=दुष्ट बुद्धि को, अयथार्थ ज्ञान के कारण पाप में प्रवृत्त होनेवाली राजस् बुद्धि को **अपबाधमानाः**=ये अपने से दूर रोकनेवाली हों। ३. ये प्रजाएँ **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञपतिम्**=सब यज्ञों के पति उस प्रभु की **आभजन्तीः**=उपासना करेनवाली हों। उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ ये अनुभव करें। उन यज्ञों का इन्हें अहंकार न हो जाए और न ही धन कमाने का अहंकार हो। वे धन को प्रभु का ही समझें, अपने को ट्रस्टी मात्र। ४. और **रायस्पोषे**=धन का पोषण होने पर **यज्ञः**=यज्ञ इनके घरों में **अधि अस्थात्**=आधिक्येन स्थित हो। धन की वृद्धि यज्ञियवृत्ति की कमी का कारण न बन जाए। प्रायः सांसारिक ऐश्वर्य की वृद्धि संसार के विलास का कारण बन जाती है। हममें तो यह श्रेष्ठतम कर्मों की वृद्धि का ही कारण बने।

भावार्थ—१. हमारे राष्ट्र के सब लोग परमेश्वर के उपासक हों। २. यज्ञ की रक्षा करें। ३. प्रकाशमय जीवनवाले होकर तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठें। ४. धन की वृद्धि होने पर यज्ञपति प्रभु की उपासना से दूर न हो जाएँ। ५. धनी होकर अधिक यज्ञिय वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

तप्त घर्म

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवाः॥५५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर यज्ञों के खूब होने की बात कही है। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि अप्रतिरथ **समिद्धे अग्नौ**=खूब दीप्त अग्नि में, यज्ञों के द्वारा उस प्रभु की **अधि-मामहानः**=(उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजकः—उ०) अतिशयेन पूजा करता है। यज्ञों के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा ही वस्तुतः प्रभु की उपासना होती है। हम यज्ञों को अपनाकर प्रभु के निर्देश का पालन करते हैं। २. **उक्थपत्रः**=(उक्थानि पत्रं वाहनं यस्य) यह प्रभु के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही अपना वाहन बनाता है। उनपर आरूढ़ होकर यह अपनी जीवन-यात्रा को पूरा करता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और

जीवन-संग्राम को जारी रखता है। ३. **ईड्यः**=(ईड्=स्तुति, तत्र साधु) स्तुति में उत्तम होता है? इसका प्रभु-स्तवन आडम्बरमात्र न होकर वास्तविक होता है। यह स्तुति से अपने सामने एक लक्ष्य-दृष्टि को उपस्थित करता है। ४. **गृभीतः**=(गृभीतं ग्रहणमस्यास्ति इति-द०) यह ज्ञान के ग्रहणवाला होता है अथवा मनरूप लगाम को सम्यक्तया पकड़े हुए होता है। ५. ये मन को वश में करनेवाले लोग **तप्तं घर्मम्**=(तप्=दीप्तौ) खूब दीप्त शक्ति को (घर्म=शक्ति की उष्णता) **परिगृह्य**=ग्रहण करके **अयजन्त**=सर्वथा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। इनका ज्ञान (तप्तं) व इनकी शक्ति (घर्म) दोनों यज्ञों का साधन बनते हैं। ६. **यत्**=जब-तब **देवाः**=ये ज्ञानदीप्त लोग **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के हेतु से **यज्ञम्**=उस यजनीय प्रभु को (यज्ञो वै विष्णुः) **अयजन्त**=अपने साथ सङ्गत करते हैं। इस प्रभु-सङ्ग से ही ये अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले होते हैं।

भावार्थ—१. यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन होता है। २. प्रभु-स्तवन ही जीवन-यात्रा में वाहन बने। ३. हम उत्तम स्तुति करनेवाले बनें। ४. ज्ञान का ग्रहण करें। ५. ज्ञान-दीप्त शक्ति प्राप्त करके यज्ञशील हों। ६. प्रभु के मेल से अपने में शक्ति का सञ्चार करें।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवश्रीः-श्रीमनाः-शतपयाः

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्योऽअध्वर्यन्तोऽअस्थुः॥५६॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'प्रभु के साथ सङ्गतीकरण' पर थी। इसी बात से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **दैव्याय**=देवों का हित करनेवाले, **धर्त्रे**=सबका धारण करनेवाले तथा **जोष्ट्रे**=पिता के नाते जीवों की अपने पुत्रों की भाँति प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाले प्रभु के लिए (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **देवश्रीः**=(देवान् श्रयति) दिव्य गुणों का सेवन करनेवाले बनो। प्रभु दैव्य हैं, देवों का हित करनेवाले हैं। हम भी दिव्य गुणों का धारण करनेवाले बनेंगे और प्रभु से किये जानेवाले हित के पात्र होंगे। २. प्रभु-अर्चन के लिए **श्रीमनाः** (श्रयषां श्रीः=सेवनम्)=सेवा की मनोवृत्तिवाला बनता है, प्रभु भी तो 'धर्त्रे' सबका धारण करनेवाले हैं, यह भी औरों के धारण का प्रयत्न करता है। ३. प्रभु **जोष्ट्रे**=सभी का प्रीतिपूर्वक सेवन कर रहे हैं, यह भी 'शतपयाः'=सैकड़ों आप्यायनों=वर्धनोंवाला बनता है। अपना आप्ययन करता हुआ यह औरों का भी आप्यायन करता है। ४. इस प्रकार दिव्य गुणों को **परिगृह्य**=ग्रहण करके **देवाः**=ये देववृत्तिवाले लोग **यज्ञम्**=यज्ञ को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सदा यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं। ५. ये **देवाः**=देव **देवेभ्यः**=देवों के लिए, अर्थात् अपने में निरन्तर दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए **अध्वर्यन्तः**=(अध्वरम-हिंसा कर्तुमिच्छन्तः) अंहिसा को चाहते हुए **अस्थुः**=ठहरते हैं। 'अहिंसा' ही अन्य सब यम-नियमों के मूल में है। ये अहिंसा ही हमें 'देवश्रीः-श्रीमनाः-व शतपयाः' बनाएगी।

भावार्थ—१. हम दिव्य गुणों का आश्रय करके "दैव्य" प्रभु के हित के पात्र बनें। २. हम श्रीमनाः सेवावृत्तिवाले बनकर औरों का धारण करते हुए "धर्ता" प्रभु का अर्चन करें। ३. औरों की सेवा के लिए सैकड़ों आप्यायनोंवाले बनें और इस प्रकार प्रेम से सबका भला करते हुए 'जोष्ट्रे' प्रभु की पद-पद्धति पर चलें। ४. यज्ञशील हों। ५. दिव्य गुणों की वृद्धि के लिए 'अहिंसा' को मौलिक आधार बनाएँ।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—यज्ञः। छन्दः—निचृदार्षीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

सात्त्विक अन्तः शान्ति

वीतꣳहविः शमितꣳशमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम्॥५७॥

१. **हविः वीतम्**=गत मन्त्र के 'अध्वर्यन्'=अहिंसा को चाहनेवाले से हवि का ही भक्षण किया गया है। इसने सदा 'हु दानादनयोः' दानपूर्वक ही अदन किया है। सदा यज्ञशेष खानेवाला ही बना है, अथवा पवित्र पदार्थों का ही भक्षण किया है। २. **शमितम्**=सात्त्विक भोजन से इसने अपने मन को शान्त बनाया है। ३. **शमिता**=यह शम को धारण करनेवाला **यजध्यै** (यष्टुम्)=यज्ञों के लिए प्रवृत्त हुआ है। ४. **तुरीयः** =(तुरीयमस्यास्तीति) यह चौथे कदमवाला हुआ है, **यत्र**=जहाँ कि **यज्ञः**=वह पूजनीय, सङ्गति व समर्पण के योग्य प्रभु **हव्यम्**=इस अर्पण करनेवालों में उत्तम पुरुष को **एति**=प्राप्त होता है। माण्डूक्य में 'सोयमात्मा चतुष्पात्'=यह आत्मा चतुष्पात् है, ऐसा कहा है। वेद में 'पृथिवी का विजय,' अन्तरिक्ष का विजय, द्युलोक का विजय व स्वयं देदीप्यमान ज्योति की प्राप्ति' इन चार कदमों का वर्णन हुआ है। चौथे कदम में उस 'स्वर्ज्योति' की प्राप्ति होती है। ५. **ततः**=इस ज्योति के प्राप्त होने पर **वाकाः**=(वचनानि ऋग्यजुःसामलक्षणानि—द०) सब ज्ञान की वाणियाँ इसे प्राप्त होती हैं और **आशिषः**='अभीष्ट अर्थशंसन', अर्थात् उत्तम इच्छाएँ **नः**=हमें **जुषन्ताम्**=सेवन करती हैं, अर्थात् हमारी सब उत्तम कामनाएँ पूर्ण होती हैं। ब्रह्म के प्राप्त होने पर सब ज्ञान प्राप्त हो जाता है और सब कामनाएँ सत्य हो जाती हैं।

भावार्थ—१. हम सात्त्विक भोजनवाले हों। २. शुभ गुणयुक्त, ३. यज्ञशील हों। ४. परमात्मा-प्राप्तिरूप चौथे कदम को रखनेवाले बनें। ५. जिससे हम ज्ञानी व सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—अप्रतिरथः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

सूर्यरश्मिः

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ऽअजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः॥५८॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि उसे वेदवाणियाँ प्राप्त होती हैं। वहीं से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि यह अप्रतिरथ **सूर्यरश्मिः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञान की रश्मियोंवाला बनता है। **हरिकेशः**='हरि' दुःखहरण व 'क'=सुख का ईश होता है। यह यथासम्भव औरों के दुःखों को हरनेवाला तथा सुख प्राप्त करानेवाला होता है। ३. **पुरस्तात्**=यह निरन्तर आगे बढ़ता है। ४. **सविता**=(सु=अभिषव) यह उत्पादक होता है, सदा निर्माणात्मक कार्यों में लगा रहता है औरों को भी उत्तम कार्यों की प्रेरणा देता है। (षू प्रेरणे)। ५. इसके जीवन से **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=प्रकाश **उदयाम्**=(उद्गच्छति) उद्गत होता है। ६. यह **पूषा**=अपनी शक्तियों का ठीक से पोषण करनेवाला **तस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **प्रसवे**=अनुज्ञा में **याति**=चलता है। सब कार्यों को प्रभु की प्रेरणा के अनुसार करता है। ७. **विद्वान्**=अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को समझता है। ८. **विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्**=सब प्राणियों को देखता है (look after), उनका ध्यान करता है। ९. **गोपाः**=इन्द्रियों का रक्षक होता है, उन्हें विषय-पंक में फँसने से बचाता है।

भावार्थ—'अप्रतिरथ' ऋषि वह है जो सूर्य के समान ज्ञान की किरणोंवाला है।

'दुःखहरण व सुखप्रापण' जिसका ध्येय है। वह निरन्तर आगे और आगे बढ़ रहा है, उत्पादन के कार्य में लगा है, निरन्तर ज्ञान की ज्योति को बढ़ाता हुआ, शक्तियों का पोषण करता हुआ प्रभु की अनुज्ञा में चल रहा है, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को समझता हुआ, सभी का ध्यान करता हुआ, जितेन्द्रियता से जीवन यापन करता है।

ऋषिः—विश्वावसुः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व व अपर केतु

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥५९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार 'अप्रतिरथ' सब वासनाओं को जीतकर 'सब वसुओं को प्राप्त करनेवाला बनता है' और 'विश्वावसु' हो जाता है। यह 'विश्वावसु' **विमानः**='विशेषेण मिमीते' प्रत्येक क्रिया को बड़ा माप-तोल कर करता है। २. **एषः**=यह विश्वावसु **दिवो मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **आस्ते**=निवास करता है। ३. **रोदसी**=द्यावापृथिवी को, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष=हृदय को **आपप्रिवान्**=(प्रा पूरणे) न्यूनताओं से रहित करके शक्ति-सम्पन्न बनाता है। मस्तिष्क को ज्ञान से, शरीर को शक्ति से तथा हृदयान्तरिक्ष को 'नैर्मल्य' व सत् (सत्य) से पूरण करता है। इसके मस्तिष्क में ज्योति है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इसके शरीर में नीरोगता उभरती है 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'। इसके हृदय में सत्य है 'असतो मा सद्गमय'। ४. **सः**=वह विश्वावसु **विश्वाचीः**=(विश्वं अञ्चन्ति) सर्वव्यापक प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को **अभिचष्टे**=देखता है, अर्थात् प्रभु की ओर ले-जानेवाली क्रियाओं को ही करता है। **घृताचीः**=(घृ क्षरणदीप्तिः) यह उन क्रियाओं को करता है जो उसे शरीर के मल के क्षरण व ज्ञान की दीप्ति की ओर ले-जाती हैं, और इस प्रकार यह ५. **अन्तरा**=अपने हृदयदेश में **पूर्वं केतुम्**=उत्कृष्ट ज्ञान को पराविद्या व ब्रह्मविद्या को **च**=तथा **अपरं केतुम्**=अपराविद्या को, प्रकृति-ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार यह अपराविद्या से ऐहलौकिक वसु को प्राप्त करता है तो पराविद्या से 'पारलौकिक वसु' को। इस प्रकार दोनों वसुओं को प्राप्त कर यह सचमुच 'विश्वावसु' बन जाता है।

भावार्थ—'विश्वावसु' वह है १. जो सब क्रियाओं को माप-तोलकर करता है। २. सदा ज्ञान में निवास करता है। ३. शरीर-मन व मस्तिष्क का पूरण करता है। ४. उन क्रियाओं को करता है जो इसे प्रभु व ज्ञान की ओर ले-जाएँ। ५. अपने हृदय में 'परा व अपरा' विद्या को—ज्ञान-विज्ञान को स्थान देता है।

ऋषिः—अप्रतिरथः। **देवता**—आदित्याः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पितृगृह-प्रवेश (अन्तरक्षण)

उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥६०॥

१. गत मन्त्र के अन्त में विश्वावसु के ज्ञान-विज्ञान के धारण का उल्लेख है। उसे धारण करके यह **उक्षा** =उस ज्ञान का सेचन करनेवाला बनता है, उस ज्ञान को प्रजाओं में फैलाता है। २. **समुद्रः**=इस कार्य को करता हुआ यह सदा आनन्द में निवास करता है (स+मुद्)। हर्ष-शोक के वश में न होकर आनन्दमय बना रहता है। ३. **अरुणः**=अपनी तेजस्विता से 'आ-रक्त' वर्णवाला होता है। ४. **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाला होता है। ऐसा बनकर ५. **पूर्वस्य पितुः**=उस सबके प्रथम पिता प्रभु के **योनिम्**= स्थान में

आविवेश=प्रवेश करता है, अर्थात् उस प्रभु की उपासना करता हुआ प्रभु से मेल करने का प्रयत्न करता है। ६. **मध्ये दिवः निहितः**=यह सदा ज्ञान के मध्य में निवास करता है। ७. **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्) सब ज्ञान-रश्मियों का सम्पर्क करनेवाला होता है अथवा 'अल्पतनु' होता है, शरीर को बड़ा मोटा-ताज़ा करने में नहीं लगा रहता, परन्तु ८. **अश्मा**=शरीर को पत्थर-जैसा दृढ़ बनाता है। ९. शरीर की दृढ़ता के लिए ही **विचक्रमे** =विशिष्ट पुरुषार्थ करनेवाला होता है और **रजसः**=इस शरीररूप लोक के **अन्तौ**=अन्तों को, मस्तिष्क व चरणों को **पाति**=बड़ा सुरक्षित रखता है। इसका ज्ञान उत्तम व पवित्र होता है और उस ज्ञान के अनुसार इसके आचरण भी पवित्र होते हैं। विचार और आचार दोनों पवित्र होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान का प्रसार करनेवाला, सदा आनन्दमय, तेजस्वी, उत्तमता से अपना पूरण करनेवाला 'अप्रतिरथ' परमात्मा में पहुँचता है। सदा ज्ञान में स्थित (नित्य सत्यस्थ) ज्योतियों के स्पर्शवाला, दृढ़ शरीर यह निरन्तर पुरुषार्थ करता है और अपने विचार-आचार की बड़ी रक्षा करता है।

ऋषिः—मधुच्छन्दा सुतजेताः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

रथीनां रथीतम

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम्॥६१॥

१. गत मन्त्र में 'पूर्व पिता के गृह में प्रवेश' का वर्णन था। प्रस्तुत मन्त्र में उसी पूर्व पिता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **विश्वाः गिरः**=सब वेदवाणियाँ उसी का **अवीवृधन्**=वर्धन करती हैं, अर्थात् सारी वाणियाँ प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'=सारे वेद उसी परमात्मा का वर्णन करते हैं। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'=सारी ऋचाएँ उस परम अविनाशी सर्वव्यापक प्रभु में ही स्थित हैं। उस प्रभु में २. जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली व सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। ३. **समुद्रव्यचसम्**=(स-मुद्) सदा आनन्द में निवास करनेवाले तथा अत्यन्त विस्तारवाले हैं। वस्तुतः सर्वव्यापकता व विस्तार के कारण ही आनन्दमय हैं। ४. **रथीनां रथीतमम्**=रथों के सर्वोत्तम रथी हैं। सर्वोत्तम रथ-संचालक हैं, इसीलिए एक सच्चा भक्त अपने शरीररूप रथ की बागडोर भी उस प्रभु के हाथ में सौंप देता है। ५. **वाजानां पतिम्** =सब शक्तियों के वे स्वामी हैं। उनका भक्त बनकर मैं भी इन शक्तियों को क्यों न प्राप्त करूँगा? ६. **सत्पतिम्** =वे प्रभु सज्जनों के रक्षक हैं। हम भी 'सत्' को अपनाकर, सद्भाव से सत्कर्मों को करते हुए उस प्रभु से रक्षणीय बनें।

भावार्थ—सब वेदवाणियाँ उस प्रभु का वर्णन कर रही हैं जो प्रभु 'इन्द्र, समुद्रव्यचस, रथीनां रथीतम, वाजानां पति व सत्पति' है। हम भी 'वासनारूप शत्रुओं का नाश करनेवाले 'इन्द्र' बनें, मन को महान् बनाकर मनःप्रसाद का साधन करें। शरीररूप रथ की बागडोर प्रभु को सौंपकर शक्तियों के पति बनें। जीवन में 'सत्' के रक्षक हों। इन उत्तम इच्छाओं के द्वारा जन्म-मरण के विजेता हम इस मन्त्र के ऋषि 'जेता मधुच्छन्दा हों'।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

देवहूः सुम्नहूः

देवहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्।
यक्षद्दग्निर्देवो देवाँ२॥ऽआ च वक्षत्॥६२॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवहूः**=(देवान् वक्षत्) देवों को पुकारनेवाला है, अर्थात् यज्ञ से हम

में दिव्य गुणों की वृद्धि होती है। **च**=वह यज्ञ हमें दिव्य गुणों को **आवक्षत्**=(आवहतु—म०) प्राप्त कराए। २. **यज्ञः**=यह यज्ञ **सुम्नहूः**=(सुम्नं ह्वयति) सुख को घर में पुकारनेवाला है। **च**=और यह **आवक्षत्**=सुख को हमारे घरों में प्राप्त करानेवाला है। एवं, यज्ञों के दो परिणाम हैं—(क) दिव्य गुणों की वृद्धि तथा (ख) सुखों की प्राप्ति। ३. **अग्निः यक्षत्**=(यजतु) यह आगे बढ़ने की वृत्तिवाला व्यक्ति यज्ञ करे **च**=और **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **देवान् आवक्षत्**=इसे दिव्य गुणों को प्राप्त कराए। इस वाक्य शैली से यह स्पष्ट है कि हम यज्ञ करते हैं और हमें दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। 'यज्ञ' 'ऋतुओं की अनुकूलता, वायुशुद्धि व नीरोगता' आदि के द्वारा इस लोक के सुखों को देता है, साथ ही लोभ की वृत्ति पर कुठाराघात करता हुआ यह हमारी सब अशुभ-वृत्तियों को भी समाप्त करता है और हममें दिव्य गुणों का विकास करता है। दिव्य गुणों का प्रारम्भ 'धृति' से है, अतः मन्त्र का ऋषि 'विधृति' है, विशिष्ट धृतिवाला।

भावार्थ—१. यज्ञ हमारे लिए सुखमय स्थिति उत्पन्न करके इस लोक को अच्छा बनाते हैं। २. हमारी अशुभ-वृत्तियों को समाप्त करके, दिव्यता को जन्म देकर आमुष्मिक निःश्रेयस के साधक होते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उद्ग्राभ-निग्राभ

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ऽअकः॥६३॥

१. **वाजस्य प्रसवः**=सब शक्तियों का उत्पत्तिस्थान प्रभु **मा**=मुझे **उद्ग्राभेण**=उत्कृष्ट वसुओं के ग्रहण से **उदग्रभीत्**=ऊपर ग्रहण करे, अर्थात् विषय-वासनाओं से ऊपर उठाकर अपने समीप प्राप्त कराए। वस्तुतः शक्ति की उत्पत्ति व रक्षा से ही शरीर में नीरोगता उत्पन्न होती है। मन की पवित्रता के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है। शक्ति में ही सब गुणों का वास है और अन्त में यह विषय-वासनओं से ऊपर उठा हुआ व्यक्ति प्रभु से ग्रहण के योग्य होता है, प्रभु इसको स्वीकार करते हैं। २. **अध**=अब **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **मे**=मेरे **सपत्नान्**=काम, क्रोधादि शत्रुओं को **निग्राभेण**=निग्रह, वशीकरण के द्वारा **अधरान् अकः**=पराजित करने का अनुग्रह करें। प्रभुकृपा से मैं इन शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ३. इन शत्रुओं के साथ संग्राम में बड़े धैर्य से चलता हुआ यह व्यक्ति सचमुच 'वि-धृति' है। इस विधृतित्व के कारण ही अन्त में यह विजयी बनता है।

भावार्थ—१. प्रभु मुझमें शक्ति उत्पन्न करें, जिससे उत्कृष्ट गुणों के ग्रहण से मैं प्रभु का प्रिय बन पाऊँ। २. प्रभु काम-क्रोधादि सपत्नों को मेरे वशीभूत करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—आर्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

ब्रह्म-वर्धन

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम्॥६४॥

१. **देवाः**=विद्वान् लोग **उद्ग्राभं च**=उत्कृष्ट वसुओं के बारम्बार ग्रहण से **च**=तथा **निग्राभम्**=वासनाओं के निग्रह से (आभीक्ष्ण्ये णवुल्) **ब्रह्म अवीवृधन्**=अपने अन्दर ज्ञान का व प्रभु का वर्धन करते हैं। ज्ञान व प्रभु-वर्धन का मुख्य उपाय यही है कि हम उत्कृष्ट

सत्य आदि गुणों का ग्रहण करते चलें और निकृष्ट कामादि का निग्रह करनेवाले बनें। 'सत्य को ग्रहण करें, असत्य को छोड़ें' यही तो प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. **अध**=अब **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि=जितेन्द्रियता (इन्द्र) व आगे बढ़ने की वृत्ति व बुराइयों को भस्म करने की वृत्ति (अग्नि) **मे**=मेरे **विषूचीनान्**=इन्द्रियों, मन व बुद्धि में विचरनेवाले (विष्वग् अञ्चनान्) **सपत्नान्**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को **व्यस्यताम्**=विशेषरूप से दूर फेंक दें। वस्तुतः 'इन्द्र-शक्ति का विकास व आगे बढ़ने की प्रबल कामना' ये दो बातें ऐसी हैं जिनके होने पर वासनाओं का जन्म सम्भव ही नहीं होता। मैं जितेन्द्रिय बनकर अपने अन्दर बने हुए असुरों के दुर्गों का दहन कर डालता हूँ। ब्रह्म का वर्धन करता हुआ मैं भी 'त्रिपुरारि' का छोटा रूप बन जाता हूँ।

भावार्थ—१. हम सत्य का ग्रहण व असत्य का त्याग करके ब्रह्म वर्धन करनेवाले बनें। २. जितेन्द्रियता व अग्नित्व के द्वारा हम विरोधी वासनाओं का विनाश करनेवाले हों।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

मुक्ति में स्थिति

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳहस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठꣳस्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥६५॥

१. **अग्निना**=यज्ञ की अग्नि से, अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि के द्वारा **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग का आरोहण करनेवाले बनो। यह यज्ञाग्नी तुम्हारे जीवन को स्वर्ग का जीवन बनाये। यह तुम्हारे सब इष्ट-कामों का दोहन करता हुआ तुम्हें सुखी करे। २. **उख्यम्**=उखा से=स्थाली से संस्कृत किये हुए अन्न को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए, अर्थात् यह अन्न तुम्हारे हाथों की कमाई से प्राप्त किया गया हो। ३. **दिवःपृष्ठम्**=ज्ञान के पृष्ठ पर, अर्थात् सदा ज्ञानारूढ़ हुए-हुए **स्वर्गत्वा**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करके **देवेभिः**=दिव्य गुणों से मिलकर **आध्वम्**=ठहरो। अथवा **देवेभिः**=ब्रह्म में ही रमनेवाले, परमात्मा के साथ विचरनेवाले मुक्तात्माओं के साथ **मिश्राः**=मिलकर **आध्वम्**=ब्रह्म में स्थित होओ। ४. एवं, प्रस्तुत मन्त्र में मुक्ति का निम्नक्रम प्रदर्शित हुआ है। (क) हम यहाँ यज्ञमय जीवन बनाकर स्वर्ग को पाने का प्रयत्न करें। (ख) अपने हाथों से कमाकर संस्कृत अन्नों का सेवन करनेवाले बनें (पहले यज्ञ, पीछे खाना) यह क्रम भी महत्त्वपूर्ण है। (ग) ज्ञान के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करना। (घ) इस प्रकार उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप पहुँचना। (ङ) और उस ब्रह्म से ही अन्य मुक्तात्माओं के साथ मिलकर आसीन होना। जीवन्मुक्त पुरुष यहाँ भी प्रभु-निष्ठ होते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर ज्ञान-चर्चाएँ करते हैं। ऐसी ही ज्ञान-चर्चाओं के परिणामरूप 'उपनिषद्' आदि ग्रन्थ बनें।

भावार्थ—१. यज्ञाग्नि हमारे जीवनों को नीरोग व सुखी बनाये। २. हम पुरुषार्थ से अन्नों का अर्जन करें। ३. ज्ञानप्रधान जीवन बिताएँ। ४. उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति के समीप उपस्थित हों। ५. देवों से मिलकर उस प्रभु में स्थित हुए-हुए ज्ञानचर्चाएँ करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पूर्व दिशा को लक्ष्य करके

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह।
विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥६६॥

१. पिछले मन्त्र के 'क्रमध्वम्' का व्याख्यान प्रस्तुत मन्त्र में है। **क्रमध्वम्**=पुरुषार्थ करो। क्या पुरुषार्थ करें? प्रभु कहते हैं कि **प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि**=प्राची जोकि प्रकृष्ट दिशा है, उसका लक्ष्य करके आगे और आगे बढ़। पूर्व दिशा में सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्ड उदय होकर आगे और आगे बढ़ते प्रतीत होते हैं, अतः यह आगे बढ़ने की दिशा है (प्र=अञ्च)। तू भी इस दिशा से यही प्रेरणा ले कि मुझे निरन्तर आगे बढ़ना है। २. सबसे पहला काम तो यह कर कि हे **अग्ने**=आगे बढ़नेवाले जीव! **विद्वान्**=तू ज्ञानी बन। अपने ज्ञान को निरन्तर बढ़ानेवाला बन। ३. इन ज्ञान प्राप्त करनेवाले अग्नियों में तू **इह अग्नेः पुरः अग्निः भव**=यहाँ—इस जीवन में, प्रगतिशील साथियों के अग्रभाग में होनेवाला अग्निः अग्रेणी=अपने को प्रथम स्थान में प्राप्त करानेवाला बन। ४. तू अपने ज्ञान से **विश्वाः आशाः दीद्यानः**=सब दिशाओं को दीप्त करता हुआ **विभाहि** =विशेष रूप से दीप्तिवाला बन। ५. और **नः ऊर्जम्**=हमारे इस बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को **द्विपदे चतुष्पदे**=दोपाये व चौपायों के लिए **धेहि**=धारण कर। अन्न का सेवन तूने अकेले नहीं करना। 'अकेला खानेवाला पापी होता है', इस बात को भूलना नहीं।

भावार्थ—१. हम पूर्व दिशा को लक्ष्य बनाकर आगे और आगे बढ़ें। २. आगे बढ़नेवालों में भी आगे बढ़कर 'शिरोमणि' (topmost) बनने का प्रयत्न करें। ३. अपने ज्ञान से सब दिशाओं को दीप्त करें। ४. सभी के लिए अन्न का धारण करते हुए अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

ऊपर और ऊपर

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥६७॥

१. पिछले मन्त्र में 'पूर्व दिशा का लक्ष्य करके आगे बढ़ने' का उल्लेख था। उसी आगे बढ़ने को स्पष्ट करके कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिव्याः**=इस पृथिवी से **उत्**=ऊपर उठकर **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक में **आरुहम्**=आरोहण करूँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर **दिवम् आरुहम्** =द्युलोक में आरोहण करूँ। ३. **दिवः**=द्युलोक का **नाकस्य**=जो सुखमय प्रदेश है, जिसमें दुःख नहीं है उस स्वर्गप्रदेश के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से **स्वर्ज्योतिः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अहम्**=मैं **अगाम्** =प्राप्त होऊँ। ४. इस जीवन-यात्रा में हमें आगे और आगे बढ़ना है। 'आरोहणमाक्रमण'—'चढ़ना और आगे कदम रखना' यही तो जीवित पुरुष का मार्ग है। जितने-जितने हमारे कर्म उत्तम होते हैं उतना-उतना हमारा जन्म उत्कृष्ट लोकों में होता है—(क) सामान्यतः ५० पुण्य व ५० पाप होने पर हम इस पृथिवीलोक पर जन्म लेते हैं। (ख) पुण्य ८० व पाप २० रह जाने पर हमारा जन्म चन्द्रलोक में होता है, वहाँ सुख अधिक और दुःख बहुत कम हो जाता हैं। (ग) अब पुण्य ९९ तथा पाप एक-आध रह जाने पर हमारा जन्म द्युलोक में होता है जहाँ सुख-ही-सुख है। (घ) इस जीवन-यात्रा की पूर्ति उस दिन होती है जब हम १०० के १०० पुण्यकर्म करते हुए उनके अभिमान से ऊपर उठे हुए द्युलोक से भी ऊपर उठकर उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। ब्रह्म को प्राप्त करने पर यह आने-जाने का चक्र समाप्त होता है। ५. पृथिवी आदि से ऊपर उठने का भाव इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है (क) 'हम पृथिवी पृष्ठ से उठकर अन्तरिक्ष में पहुँचें' अर्थात् 'पृथिवी शरीरम्'

शरीर की शक्तियों का विस्तार करें, परन्तु शरीर में ही न उलझे रह जाएँ। केवल शारीरिक उन्नति सम्भवतः हमें 'हाथी' की योनि में भेज देगी। (ख) अतः हम शरीर के साथ हृदयान्तरिक्ष का भी ध्यान करें। हम अपने हृदय को बड़ा निर्मल बनाने का यत्न करें, परन्तु हृदय की निर्दोषता पर ही रुक गये तो भी गौ का जीवन मिल जाएगा। (ग) हृदय से ऊपर उठकर हम द्युलोक का आरोहण करनेवाले बनें। यह द्युलोक 'मूर्धा' है। हम मस्तिष्क की उन्नति करनेवाले बनें। (घ) और अब मस्तिष्क को खूब विकसित करके हम अपनी इस अग्र्या बुद्धि से, तीक्ष्ण व सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करें।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से द्युलोक को, तथा द्युलोक से स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करें।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

उपायत्रयी

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳरोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳसुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥६८॥

१. गत मन्त्र में स्वर्ज्योति की प्राप्ति का उल्लेख है। उसी के साधनों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **स्वर्यन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर जाते हुए योगवृत्तिवाले पुरुष **नापेक्षन्ते**=सांसारिक वस्तुओं की बहुत अपेक्षा नहीं करते, अर्थात् भौतिक आवश्यकताओं को कम और कम करते चलते हैं। २. **रोदसी**=जरा-मृत्यु शोकादि का निरोध करनेवाले (रुणद्धि जरामृत्युशोकादीन्—म०) **द्याम्**=प्रकाशमयलोक में **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। अपने ज्ञान को अधिक-से-अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। यह ज्ञान इनका **रोदसी**=रोध्री=जन्म-मरणचक्र का निरोध करनेवाला बनता है। ३. **ये सुविद्वांसः**=ज्ञान-वृद्धि करनेवाले उत्तम ज्ञानी **विश्वतोधारं यज्ञम्**=जगत् के धारणहेतु, यज्ञ को **वितेनिरे**=विस्तृत करते हैं, अर्थात् ये विद्वान् लोकहित के कार्यों में लगे रहते हैं।

भावार्थ—स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर चलनेवाले लोग। १. भौतिक आवश्यकताओं को कम करते हैं। २. दुःख-शोक निरोधक ज्ञान का अपने में वर्धन करते हैं और ३. जगत् के धारणहेतुभूत यज्ञों को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—विधृतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

देवयतां प्रथमः 'भृगुभिः सजोषाः'

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥६९॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—**अग्ने**=हे अग्रगति को सिद्ध करनेवाले जीव! तू **प्रेहि**=आगे बढ़। २. **प्रथमः देवयताम्**=दिव्य गुणों की कामना करनेवालों में तू प्रथम बन। ३. इस संसार में तू **देवानाम्**=सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि सब देवों का **चक्षुः** (चष्टे)=देखनेवाला बन। इनका तत्त्वज्ञान प्राप्त कर। इनका तत्त्वज्ञान ही तुझे इनके ठीक उपयोग से स्वस्थ बनाएगा। ४. **उत**=और **मर्त्यानाम्**=मनुष्यों के भी **चक्षुः**=व्यवहार को तू सम्यक् देखनेवाला बन। उनकी मनोवृत्ति को समझने पर ही तू सबके साथ उत्तमता से वर्त्तता हुआ व्यर्थ के वैर-विरोध से बचा रहेगा। ५. **इयक्षमाणाः**=(यष्टुम् इच्छन्तः)

यज्ञों के करने की इच्छावाले होते हुए तथा **भृगुभिः सजोषाः**=(भ्रस्ज पाके) उत्तम परिपक्व विद्वानों के साथ प्रीतिपूर्वक ज्ञान-चर्चाओं का सेवन करते हुए **यजमानाः**=पूजा-सङ्गतीकरण व दान वृत्तिवाले लोग **स्वस्ति**=रोग व शोकादि से आहत न होते हुए **स्वः यन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिं को प्राप्त करें।

भावार्थ—१. हम अग्नि बनें, आगे बढ़ें, दिव्य गुणों का वर्धन करनेवालों में प्रथम हों। २. प्राकृतिक देवों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके ठीक उपयोग से स्वस्थ हों। मनुष्यों का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे उनके स्वभाव को समझकर वर्त्तते हुए झगड़ों में न उलझ जाएँ। ३. यज्ञशील बनकर ज्ञानियों के साथ ज्ञानचर्चाओं का सेवन करते हुए स्वस्थ बनकर प्रभु को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आदर्श पति-पत्नी

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳसमीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन् द्रविणोदाः॥७०॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'विधृति'=विशिष्ट धैर्य के साथ आगे बढ़ता हुआ सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला बनता है और 'कुत्स' (कुथ हिंसायाम्) कहलाता है। जो पति-पत्नी परस्पर सहायता करते हुए 'कुत्स' बनते हैं, उनका चित्रण करते हुए कहते हैं कि २. **नक्तोषासा**=(ओलस्जी व्रीडे, उष दाहे) पत्नी 'नक्त' है 'व्रीडा' उसका मुख्य गुण है, वह उचित लज्जा को कभी नहीं त्यागती। पति 'उषस्' है, यह सब बुराइयों को जलाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार ये उचित लज्जाशील व दोष दहनवाले पति-पत्नी ३. **समनसा**=समान मनवाले होते हैं। इनके मनों में कभी विरोधी भावनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं। ४. **विरूपे**=ये दोनों विशिष्ट रूपवाले होते हैं, अत्यन्त तेजस्वी होते हैं। ५. **समीची**=(सम्यक् अञ्चतः) ये मिलकर उत्तम गतिवाले होते हैं। इनकी क्रियाओं में विरोध न होकर सामञ्जस्य होता है। ६. ये दोनों **एकं शिशुं धापयेते**=अद्वितीय सन्तान का पालन करते हैं। (यहाँ एक सन्तान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। महाभारत में कृष्ण और रुक्मिणी की भी एक सन्तान है, 'प्रद्युम्न'। रामायण में कौसल्या की भी एक ही सन्तान है, 'राम'। महाभारत में युधिष्ठिर की भी एक ही सन्तान है, 'श्रुतकीर्ति'।) ७. **द्यावाक्षामा**=पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त बनता है तो पत्नी पृथिवीलोक के समान सहनशील (क्षम्)। इन दोनों के **अन्तः**=मध्य में **रुक्मः**=चमकता हुआ वह सन्तान **विभाति**=शोभता है। ८. उत्तम गुणों को धारण करनेवाले **देवाः**=इस घर के सब व्यक्ति **अग्निं धारयन्**=उस अग्रेणी प्रभु को अपने अन्दर धारण करते हैं और ९. **द्रविणोदाः**=(द्रव्यप्रदातारः—द०) धनों का दान देनेवाले होते हैं। प्रभु को अपनाने-वाला त्यागवृत्तिवाला होता है। धन व प्रभु दोनों की उपासना सम्भव नहीं। प्रभु की उपासना की पहचान ही यह है कि धनासक्ति कम हुई या नहीं। प्रभुसक्त धनासक्त नहीं होता।

भावार्थ—१. पति-पत्नी ने उचित व्रीडाशील व दोष-दहनवाला होना है। २. समान मनवाला ३. विशिष्ट रूपवाला। ४. ये दोनों (समीची) सङ्गतिवाले होकर एक सन्तान का सुन्दर पालन करते हैं। ५. इनके दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर के मध्य में निर्मल मन चमकता है। ६. ये देव बनकर प्रभु को अपने निर्मल मन में धारण करते हैं और ७. धनों का दान देनेवाले होते हैं। ये प्रभु की निम्न शब्दों से उपासना करते हैं—

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

उपासना व स्तवन

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳसाहस्रस्य रायऽईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥७१॥

१. **अग्ने**=(पावक इव प्रकाशमय—द०) हे प्रभो! आप अग्नि के समान प्रकाशमय हो, मुझे भी अपनी इस ज्ञानाग्नि से दीप्त कीजिए। २. **सहस्राक्ष**=अनन्त आँखोंवाले आप हैं। ३. **शतमूर्द्धम्**=असंख्यात मस्तिष्कवाले आप हैं (सहस्रशीर्षा पुरुषः)। ४. **शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना**=अनन्त आपके प्राण हैं और अनन्त ही आपके व्यान हैं। (मैं भी आपकी कृपा से बहुद्रष्टा, दीप्त मस्तिष्क व प्रबल प्राणशक्ति-सम्पन्न बनूँ)। ५. **त्वम्**=आप **साहस्रस्य**=अनन्त प्राणियों के धारण करनेवाले **रायः**=ऐश्वर्य के **ईशिषे**=ईश हैं। वस्तुतः 'लक्ष्मी' तो आपकी पत्नी ही है, वह सभी का पालन कर रही है। आपकी कृपा से मेरा धन भी सभी का धारण करनेवाला बने, मैं कृपणता की वृत्ति से ऊपर उठूँ। ६. **तस्मै ते**=उस आपकी हम **विधेम**=पूजा करते हैं और **वाजाय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए तथा त्याग की भावना (वाज=sacrifice) की वृद्धि के लिए **स्वाहा**=(स्व, हा) हम अपने को आपके प्रति अर्पित करते हैं। आपके सम्पर्क से ही हममें शक्ति व सद्गुणों का सञ्चार होगा।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अनन्त सिर, आँखों व प्राणोंवाले हैं। आपकी कृपा से हम भी अपनी शक्तियों को बढ़ानेवाले हों। आपका धन सभी का पालन करता है, हम भी कृपण न होकर औरों का पालन करनेवाले हों। आपके सम्पर्क से शक्तिलाभ करें और त्यागशील हों।

सूचना—आचार्य ने भावार्थ में लिखा है कि योगी अनेक प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके अनेक शिर, नेत्र आदि अङ्गों से देखने आदि के कार्यों को कर सकता है।

ऋषिः—कुत्सः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृदार्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

सुपर्ण

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिशऽउद् दꣳह॥७२॥

१. गत मन्त्र के उपासक को प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **सुपर्णः असि**=(शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य—द०) तू अच्छे-अच्छे पूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त है। २. **गरुत्मान्**=(गुर्वात्मा—द०) बड़े मन व आत्मा के बल से युक्त है। ३. **पृथिव्याः पृष्ठे सीद**=इस शरीररूप पृथिवी के पृष्ठ पर तू आसीन हो, अर्थात् शरीर पर तेरा पूर्ण आधिपत्य हो, यह तेरे शासन में हो। ४. **भासा**=अपनी दीप्ति से **अन्तरिक्षम्**=अपने हृदयान्तरिक्ष को **आपृण**=(आपूरय—द०) पूरित कर। तेरा हृदय निर्मल हो, चमकता हुआ हो, वहाँ प्रभु का व प्रेम का प्रकाश हो। उसमें ईर्ष्या-द्वेषादि की कुटिलता न हो। ५. **ज्योतिषा**=तू ज्ञान की ज्योति से **दिवम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत्तभान**=ऊपर थाम=उन्नति को पहुँचा। तेरा मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से अधिकाधिक उन्नत होता चले। ६. **तेजसा**=तेजस्विता से **दिशः**=तू चारों दिशाओं को ('य आशानां आशापालाः' अथर्व०, आशाः=दिशा) अपने शरीर के चारों द्वारों को **उद् दꣳह**=उत्कृष्टता से दृढ़ कर। तेरा (क) मुखद्वार अनिष्ट भोजन

को अन्दर न जाने दे और तेरा (ख) मलद्वार मल को बाहर फेंकता हुआ सचमुच 'पायु'=रक्षक हो। (ग) तेरा 'शिश्न' (मूत्रद्वार) मूत्र को ही बाहर फेंकनेवाला हो, रेतस् को नहीं और इस प्रकार (घ) तेरा 'विदृतिद्वार' अन्त में तुझे इस ब्रह्म की ओर ले-जानेवाला बने। यह 'ब्रह्मरन्ध्र' इस नाम को सार्थक करे।

भावार्थ—हम सुपर्ण बनें। गरुत्मान् बनकर शरीर पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करें। हृदय को दीप्त करके मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करें। हमारे इस शरीर-दुर्ग के चारों द्वार दृढ़ हों।

ऋषिः—कुत्सः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

आजुह्वान-सुप्रतीक

आ॒जुह्वा॑नः सु॒प्रती॑कः पु॒रस्ता॒दग्ने॒ स्वं योनि॒मासी॑द साधु॒या।
अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ऽअध्यु॑त्त॒रस्मि॑न् विश्वे॑देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥७३॥

१. गत मन्त्र की ही प्रेरणा इस मन्त्र में इन शब्दों से दी जा रही है—**आजुह्वानः**=तू सदा दानपूर्वक अदन करनेवाला बन (हु दान-अदन)। आचार्य के शब्दों में 'सत्कारेण आहूतः'=तू इस प्रकार से शोभन आचरणवाला हो कि तुझे सब सत्कार से बुलाएँ। २. **सुप्रतीकः**=तू शोभन मुखवाला हो। तेरा चेहरा तेजस्वी हो। ३. **पुरस्तात्**=तू निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन। **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **स्वं योनिम्**=अपने घर में **साधुया**=श्रेष्ठ कर्मों से **आसीद**=आसीन हो। गृहप्रवेश के समय तूने व्रत लिया था कि 'शिवं प्रपद्ये' में कल्याणकर कर्मों को ही करूँगा, अतः तूने घर में कभी अशुभ व्यवहार नहीं करना। ५. **अस्मिन् सधस्थे** =यह घर तुम्हारा मिलकर (सह) रहने का स्थान हो, यहाँ कभी कलह न हों **अधि उत्तरस्मिन्**=इस उत्कृष्ट गृह में **विश्वे देवाः**=घर के सब लोग देव=विद्वान् व उत्तम गुणोंवाले बनकर **सीदत**=बैठो **च**=तथा **यजमानः**=प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ के शीलवाला होकर यहाँ निवास करे। 'यजमानः' यह एकवचन इस बात का सूचक है कि सभी अपने-अपने को यज्ञशील बनाने का प्रयत्न करें—दूसरों के सुधार में ही न लगे रहें।

भावार्थ—हम आजुह्वान व सुप्रतीक बनकर उन्नति करते हुए घरों में उत्तम कर्मों में आसीन हों। मिलकर चलें, देव बनें, यज्ञशील हों। यज्ञ ही तो हमें बुराइयों से बचाकर 'कुत्स' बनाएगा। यज्ञ से हम बुराइयों को भी भस्म कर देंगें।

ऋषिः—कण्वः। **देवता**—सविताः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सुमति-वरण

ताꣳस॑वि॒तुर्व॑रे॒ण्यस्य॒ चि॒त्रामाहं वृ॑णे सु॒म॒तिं वि॒श्वज॑न्याम्।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑ह॒त्प्रपी॑नाꣳस॒हस्र॑धारां॒ पर्य॑सा म॒हीं गाम् ॥७४॥

१. गत मन्त्रों का ऋषि 'कुत्स' बुराइयों के संहार के लिए प्रस्तुत मन्त्र में सुमति का वरण करता है। सुमति-वरण के कारण ही इसका नाम 'कण्व'=मेधावी हो जाता है। यह कहता है कि **सवितुः**=सब ऐश्वर्यों के दाता—सबके उत्पादक सविता की, **वरेण्यस्य**=वरने के योग्य प्रभु की, प्रकृति और प्रभु में प्रभु ही तो वरने योग्य हैं, **ताम्**=उस **चित्राम्**=अद्भुत अथवा चेतना देनेवाली **विश्वजन्याम्** =सब जनों का हित करनेवाली **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **अहम्**=मैं **आवृणे**=सर्वथा वरता हूँ। २. **अस्य** =इस प्रभु की **याम्**=जिस **प्रपीनाम्**= प्रकृष्ट आप्यायन, वर्धनवाली, **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियोंवाली (धारा =वाक्) अथवा

सहस्रों का धारण करनेवाली, **पयसा महीम्**=आप्यायन के कारण महनीय **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री-ज्ञापिका सुमति को **कण्वः**=मेधावी पुरुष **अदुहत्**=अपने में दोहन करता है, अपने में भरता है। ३. प्रभु के 'सवितुः तथा वरेण्यस्य' ये दो नाम यह सूचना दे रहे हैं कि यह सुमति तुम्हें सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कराएगी, तथा सचमुच यह वरणीय है, हमारे जीवनों को श्रेष्ठ बनानेवाली है। ४. इस सुमति के विशेषण पद इसके निम्न लाभों का संकेत कर रहे हैं (क) **चित्राम्**=यह अद्भुत योगैश्वर्यों को देनेवाली है तथा हमें उत्कृष्ट चेतना प्राप्त करानेवाली है (चित्+रा)। (ख) **विश्वजन्याम्**=यह सब लोकों का हित करनेवाली है। (ग) **प्रपीनाम्**=यह प्रकृष्ट आप्यायन व वर्धनवाली है। (घ) **सहस्रधाराम्**=शतशः वेदवाणियों में इसका प्रतिपादन हुआ है। (ङ) **पयसा महीम्**=अपनी आप्यायन-शक्ति से यह महनीय है, पूजनीय है। (च) **गाम्**=तत्त्वार्थ की गमयित्री है, वास्तविकता का ज्ञान देनेवाली है।

भावार्थ—हम प्रभु की सुमति का ही वरण करें और सचमुच 'कण्व'=मेधावी बनें। मेधावी बनकर निम्न शब्दों से प्रभु स्तवन करें—

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

परम-जन्म

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे।
यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवीꣳषि जुहुरे समिद्धे ॥७५॥

१. हे **अग्ने**=(योग-संस्कारों से अथवा) सुमति से दुष्ट कर्मों को दहन करनेवाले प्रभो! हम **परमे जन्मन्**=सर्वोत्कृष्ट जन्म के होने पर **ते विधेम**=आपकी पूजा (उपासना) करें। सुमति की प्राप्ति ही सर्वोत्कृष्ट जन्म है। इस सुमति का विकास करता हुआ पुरुष प्रभु की सर्वोत्तम पूजा करता है। २. हे अग्ने! हम **अवरे**=इस सबसे अवर स्थान में स्थित शरीर से जोकि **सधस्थे**=सब कोशों के एक स्थान में स्थित होने की जगह है अथवा जहाँ इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि सभी एकचित्त हैं, उस शरीर में **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **ते विधेम**=तेरी पूजा करते हैं। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन व हमारी बुद्धि ये सब-के-सब इस शरीर में स्थित होकर तेरा ही स्तवन करते हैं। ३. **यस्मात् योने**=जिस भी कारण से **उदारिथाः**=आप उत्कृष्टता से प्राप्त होते हो **तम्**=उसको **यजे**=अपने साथ सङ्गत करता हूँ। मैं आपकी प्राप्ति के लिए (क) बुद्धि का विकास करता हूँ, यही 'परम जन्म'='उत्कृष्ट विकास' है। (ख) शरीर को पूर्ण स्वस्थ करने का यत्न करता हूँ। इस स्वस्थ शरीर में ही सह स्थित होकर बुद्धि, मन व इन्द्रियाँ आपका स्तवन करेंगी। (ग) आपकी प्राप्ति के जो और भी साधन हैं उन्हें मैं अपने में ग्रहण करता हूँ। ४. **त्वे समिद्धे**=आपके समिद्ध होने पर ये स्तुति करनेवाले 'गृत्स' लोग **हवींषि प्रजुहुरे**=हवियों को अपने में आहुत करते हैं। हव्य पदार्थों का ही सेवन करते हैं। सात्त्विक अन्नों के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर सदा आपका स्तवन करते हुए कर्त्तव्य का पालन करते हैं।

भावार्थ—१. हम प्रभु की उपासना ज्ञान के विकास के द्वारा करें, यही परम उपासना है। २. मन, बुद्धि व इन्द्रियों से प्रभु का स्मरण करें यही मध्यम उपासना है। तथा ३. प्रभु-प्राप्ति के उपायों को अपनाएँ, यही उपासना का प्रारम्भ है। इस सबके लिए मैं हवियों का ग्रहण करूँ।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्ष्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

शश्वन्तः वाजाः

प्रेद्धोऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्त्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वाꣳशश्वन्तऽउपयन्ति वाजाः॥७६॥

१. प्रभु-स्तवन करनेवाला (गृत्स) वासनाओं को वश में करके 'वशिष्ठ' बनता है और प्रभु से कहता है कि **प्रेद्धः**=मेरे हृदय में दीप्त हुए-हुए **अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! **दीदिहि**=आप मुझे खूब ही दीप्त कर दीजिए। प्रभु का प्रकाश होते ही हृदय जगमगा उठता है। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमारे **पुरः**=आगे **अजस्त्रया सूर्म्या**=अनुपक्षीण प्रकाश से (सूर्मि=Radiance, lustre) प्रस्तुत होओ। आपका अनुगामी बनकर मैं निरन्तर आगे बढ़ता चलूँ। हे प्रभो! आप **यविष्ठ**=(यु मिश्रण-अमिश्रण) बुराइयों को दूर करनेवाले और अच्छाइयों का मेरे साथ सम्पर्क करानेवाले हैं। इसी प्रकार तो आपके प्रकाश में मैं उन्नत और उन्नत होता चलता हूँ। ३. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको **शश्वन्तः**=द्रुतगतिवाले, अर्थात् निरन्तर अनालस्य से कर्म में लगे हुए लोग **वाजाः**=(वाज=power) जो शक्ति के पुञ्ज हैं तथा (वाज=sacrifice) त्याग की वृत्तिवाले हैं, वे **उपयन्ति**=समीप प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय यही है कि (क) मनुष्य अपने नियत कर्म में लगा रहे। (ख) शक्तिशाली बने। (ग) त्याग की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनेंगे तभी हमारी बुराइयाँ समाप्त होंगी और हम अच्छाइयों को प्राप्त होंगे। हम क्रियाशील बनें, शक्तिशाली हों, त्याग की वृत्ति को अपनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—परमेष्ठी:। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीगायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ऋतु + भद्र

अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रꣳहृदिस्पृशम्। ऋध्यामा तऽओहैः॥७७॥

१. गत मन्त्र का वसिष्ठ प्रभु के नेतृत्व में, उसी की प्रेरणा के प्रकाश में चलता हुआ उन्नति के शिखर पर पहुँचता है और 'परमे-ष्ठी' नामवाला होता है। यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले हे प्रभो! **ते ओहैः**=तेरे प्राप्त करानेवाली (वह प्रापणे) **स्तोमैः**=स्तुतियों से **अद्य**=आज **अश्वं न क्रतुम्**=अश्व के समान शक्ति को **ऋध्याम**=अपने में बढ़ाएँ। घोड़ा शक्ति का प्रतीक है, हम प्रभु के उपासन से शक्ति का लाभ करें। वस्तुतः प्रभु का उपासन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, वासना न रहने से हम शक्तिशाली बनेंगे ही। २. **क्रतुम्**=शक्ति के अनुसार **भद्रम्**=कल्याण को **ऋध्यामा**=अपने में बढ़ाएँ, अर्थात् शक्तिशाली हों और शक्ति को लोगों के कल्याण में विनियुक्त करें। उस कल्याण में जोकि **हृदिस्पृशम्**=लोगों के हृदयों को स्पर्श करनेवाला है, अर्थात् हमारी भद्रता लोगों के हृदयों को प्रभावित करे। ३. वस्तुतः परमेष्ठिता=उच्च स्थान में स्थिति यही है कि मनुष्य (क) घोड़े के समान शक्तिशाली बने। घोड़ा 'अश्नुते अध्वानम्' मार्ग का व्यापन करनेवाला है, इसी लिए शक्तिशाली है। मैं भी सदा कर्मों में व्याप्त जीवन बिताऊँ और शक्तिशाली बनूँ। (ख) शक्तिशाली बनकर भद्र=कल्याण करनेवाला बनूँ और इस प्रकार कल्याण करनेवाला बनूँ कि सबके हृदयों में अपना स्थान बना लूँ।

भावार्थ—१. कर्मों में लगे रहकर हम घोड़े की भाँति शक्तिशाली बनें। २. शक्ति प्राप्त करके सभी का कल्याण करें। सभी के हृदयों में हमारे लिए स्थान हो।

ऋषिः—वसिष्ठः। देवता—विश्वकर्माः। छन्दः—विराडतिजगती। स्वरः—निषादः॥

वीतिहोत्र-ऋतावृध्

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवाऽइहागमन्वीतिहोत्राऽऋतावृधः।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳहविः॥७८॥

१. वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि मैं **मनसा**=मननशक्ति के साथ तथा **घृतेन**=शरीर के मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्ति के साथ **चित्तिम्**=विज्ञान को **जुहोमि**=ग्रहण करता हूँ, अपने अन्दर आहुत करता हूँ, अर्थात् (क) मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण करता हूँ। (ख) मन को मनन से व चिन्तन से युक्त करता हूँ, तथा (ग) शरीर को मलों के क्षरण द्वारा स्वास्थ्य की दीप्तिवाला करता हूँ। २.ऐसा इसलिए करता हूँ **यथा** =जिससे कि **इह**=इस—मेरे जीवन में **देवाः**=दिव्य गुण **आगमन्**=आएँ। दिव्य गुणों की वृद्धि हो, जिन दिव्य गुणों के कारण **वीतिहोत्रा**='वीतिः सर्वतः प्रकाशिता होत्रा वाग् येषाम्' मैं प्रकाशमय वाणी को प्राप्त करता हूँ तथा **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत का वर्धन होता है। ये देव 'वीतिहोत्र व ऋतावृध' हैं। ३. **भूमनो विश्वस्य पत्ये**=इस महान् संसार के पति के लिए **विश्वकर्मणे**=सारे विश्व के निर्माण करनेवाले के लिए **जुहोमि**=मैं अपने को अर्पित करता हूँ। उस प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करके मैं और भी अधिक प्रकाशमय व ऋतमय जीवनवाला होता हूँ। ४. मेरे जीवन से **विश्वाहा**=सदा **हविः**=यह दानपूर्वक अदन **अदाभ्यम्**=अहिंसित होता है, अर्थात् मेरी दानपूर्वक अदन की वृत्ति कभी नष्ट नहीं होती। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस उपदेश को मैं भूलता नहीं। अपने पर पूर्ण प्रभुत्व पानेवाला ही ऐसा कर सकता है, अतः यह आत्मवशी व्यक्ति 'वसिष्ठ' कहलाता है, यह इस वशित्व के कारण ही उत्तम निवासवाला होता है।

भावार्थ—१. मैं ज्ञान—मननशक्ति व स्वास्थ्य को धारण करता हूँ। २. मैं अपने जीवन में दिव्य गुणों को अपनाकर प्रकाशमय ज्ञानवाणी को प्राप्त करता हूँ व अपने में ऋत का वर्धन करता हूँ। ३. उस विश्वकर्मा विश्वपति के लिए अपना अर्पण करता हूँ। ४. मेरा जीवन सदा हवि को ग्रहण करनेवाला होता है। मैं केवलादी नहीं बनता।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। देवता—अग्निः। छन्दः—आर्षीजगती। स्वरः—निषादः॥

सप्त

सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा॥७९॥

१. पिछले मन्त्र में 'चित्तिं जुहोमि' शब्दों से अपने में ज्ञान की आहुति देने का उल्लेख है। इस ज्ञानयज्ञ के लिए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अपने को ज्ञान से प्रकाशित करनेवाले जीव! अपने अन्दर ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाले जीव! **ते**=तेरी **सप्त समिधः**=सात प्राण ही समिधाएँ हैं। अग्नि को समिधाएँ समिद्ध करती हैं, तेरे ज्ञानाग्नि को सात प्राण (प्राणा वाव इन्द्रियाणि, कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) समिद्ध करते हैं, अतः ये प्राण ही उस अग्नि की समिधाएँ हैं (प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येते सम्इन्धते श० ९।२।३।४४)। २. **सप्त जिह्वाः**=सात ही इस ज्ञानाग्नि की ज्वालाएँ हैं। 'महत्तत्व' का ज्ञान एक ज्वाला है तो 'अहंकार' का ज्ञान दूसरी ज्वाला है और 'पंचतन्मात्राओं' का ज्ञान अगली पाँच ज्वालाएँ हैं। ये सात ही प्रकृति-विकृतियाँ हैं, इनका ज्ञान ज्ञानाग्नि की सप्त ज्वाला के रूप से यहाँ कहा गया है। ३. **सप्त ऋषयः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि ये सात ऋषि इस ज्ञानयज्ञ

को चलानेवाले हैं। ४. **सप्त धाम प्रियाणि**=सात तेरे प्रियधाम हैं। यह ज्ञान वेद के सात गायत्र्यादि छन्दों में रक्खा गया है, अतः ये सात छन्द उस ज्ञान के प्रिय निवास-स्थान हैं। (छन्दांसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि श० ९।२।३।४४।) ५. **सप्त होत्राः**=ये वेद की गायत्र्यादि सात छन्दों में विभक्त सात वाणियाँ **सप्तधा**=सात प्रकार से **त्वा यजन्ति**=तेरे साथ सङ्गत होती हैं। ६. तू इन **सप्त योनीः**=ज्ञान की उत्पत्ति की कारणभूत सात वाणियों को **घृतेन**=मलों के क्षरण व दीप्ति के द्वारा **आपृणस्व**=(आपूरयस्व– उ०) अपने में पूरित कर। ७. **स्वाहा**=इस अपने में आपूरणरूप क्रिया के लिए तू (स्व) अपना (हा) त्याग करनेवाला बन। जितनी-जितनी त्यागवृत्ति बढ़ेगी उतना-उतना ही तू ज्ञान को अपने में आपूरित करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—प्राण ज्ञानाग्नि को समिद्ध करते हैं, क्योंकि इन प्राणों के द्वारा इन्द्रियों के मल दग्ध होकर इन्द्रियाँ ज्ञानयज्ञ को करने में अधिक समर्थ हो जाती हैं।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

प्राणसाधना से ज्ञान+क्रिया की शुद्धि

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च।
शुक्रश्चऽऋतपाश्चात्यꣳहाः॥८०॥

१. गत मन्त्र में प्राणसाधना के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने का उल्लेख हुआ है। प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दग्ध हो जाते हैं, 'पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि' चमक उठते हैं। ये ही सात ऋषि बन जाते हैं जो इस साधक के ज्ञान को बढ़ानेवाले होते हैं। इनसे समुचित कार्य लेनेवाले ये साधक भी 'सप्त ऋषयः' बन जाते हैं। उनका वर्णन इन मन्त्रों में दिया गया है। उन प्राणों के साधन से साधक जैसा बनता है उसी आधार पर प्राणों का भी नाम रक्खा गया है। इस मन्त्र में सात मरुतों=प्राणों का वर्णन है। इनकी साधना से साधक (क) **शुक्रज्योतिः च**=(शुक्रं ज्योतिर्यस्य) दीप्त ज्ञान की ज्योतिवाला बनता है। (ख) **चित्रज्योतिः च**=(चित्रं ज्योतिर्यस्य) यह अद्भुत=असाधारण ज्ञान की ज्योतिवाला होता है। (ग) **सत्यज्योतिः च**=(सत्यं ज्योतिर्यस्य) इसका ज्ञान सत्य होता है। योगदर्शन में इसी ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली बुद्धि को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहा गया है। (घ) **ज्योतिष्मान् च**=यह सदा प्रकाशमय अन्तःकरणवाला होता है। इसके मस्तिष्क में किसी प्रकार की उलझन व अन्धकार नहीं होता। ३. ज्ञान को प्राप्त करके यह क्रियाओं को समाप्त नहीं कर देता। यह (क) **शुक्रश्च** (शुक् गतौ) ख़ूब क्रियाशील बनता है (क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः)। (ख) यह अपनी क्रियाओं से **ऋतपाः च**=ऋत का पालन करता है। सूर्य और चन्द्रमा की भाँति बड़ी नियमित, ठीक (right) इसकी गति होती है। (ग) और इस गतिशीलता व नियमितता से यह **अत्यंहाः**=पाप को लाँघ जाता है। (अंहः अतिक्रान्तः)। एवं, इस प्राणसाधना करनेवाले का जीवन ज्योतिर्मय व क्रियामय होता है। इसका ज्ञान उज्ज्वल होता है और क्रियाएँ निष्पाप।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारी ज्योति व क्रिया का वर्धन करनेवाली हो।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्राणसाधना से युक्ताहारविहार

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च। मितश्च सम्मितश्च सभराः॥८१॥

१. गत मन्त्र का प्राणसाधक संसार के स्वरूप को भी ठीक-ठीक समझता है। वह यह जान लेता है कि यह संसार (क) **ईदृङ् च**=(अनेन तुल्यः) ऐसा ही है। संसार के अन्दर मुझे कृतघ्नता व पिशुनता लगती है। कई बार मैं इस संसार से घृणा करने लगता हूँ, परन्तु प्राणसाधना करने पर मुझे ये सब-कुछ स्वाभाविक-सी दिखती हैं और मैं संसार को उसके ठीक रूप में देखने लगता हूँ और कह उठता हूँ कि **ईदृङ् च**=यह तो ऐसा है ही (ख) **अन्यादृङ् च**=(अन्येन समानः) दूसरे-जैसा भी तो है ही। इसमें कुछ 'दुर्हृद्' हैं तो 'सुहृद्' भी हैं ही। दुर्जन हैं तो सज्जन भी हैं। (ग) **सदृङ् च**=(समानं पश्यति) बहुत-से व्यक्ति ठीक मेरे-जैसे भी यहाँ दिखते हैं। (घ) और **प्रतिसदृङ् च**=(तं तं प्रतिसदृशं पश्यति) ऐसे भी लोग हैं जोकि उस-उस व्यक्ति के अनुकूल अपने को बना लेते हैं। संसार में मेधावी पुरुष अपने सम्पर्क में आनेवाले पुरुषों के साथ अपने को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता ही है। २. इस प्रकार संसार के स्वरूप को ठीक-ठीक देखता हुआ, लोगों की मनोवृत्तियों को समझता हुआ यह अपने निजू व्यवहार में **मितः च**=(मितं अस्य अस्ति) प्रत्येक वस्तु को मितरूप से, अर्थात् माप-तोलकर करनेवाला होता है। **संमितश्च**=खान-पान में तो पूर्णतया मित होता है। सम्यक्तया मित आहार-विहार के कारण यह पूर्ण स्वस्थ रहता है। ३. सब कर्मों में युक्त चेष्ट तथा मित आहार-विहारवाला होने के साथ यह **सभराः**=(सह बिभर्ति) मिलकर भरण-पोषण करनेवाला होता है, कभी अकेला खानेवाला नहीं बनता।

भावार्थ—प्राणसाधना से १. यह संसार को ठीक रूप में देखता है। २. मपी-तुली क्रियाओंवाला होता है। ३. सबके साथ मिलकर खाता है, 'केवलादी' नहीं बनता। दूसरे शब्दों में यज्ञशेष खानेवाला होता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—आर्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋत+सत्य

ऋ॒तश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च। ध॒र्त्ता च॑ वि॒ध॒र्त्ता च॑ विधार॒यः॥८२॥

१. यह प्राणसाधना करनेवाला **ऋतश्च**=अपनी भौतिक क्रियाओं में ऋत का पालन करनेवाला होता है। इन क्रियाओं को ठीक समय व स्थान पर करता हुआ यह शारीरिक स्वास्थ्य को सिद्ध करता है। २. **सत्यश्च**=अन्य प्राणियों के साथ अपने व्यवहार में यह सत्य का पालन करता है। नैतिक नियमों का पालन करता हुआ यह अपने सामाजिक आचरण को सत्य व शुद्ध रखता है। इसी से यह सभी का प्रिय होता है। ३. **ध्रुवश्च**=यह अपने 'ऋत व सत्य' से ध्रुव होता है। किसी प्रकार के आलस्य व आराम की वृत्ति इसे विचलित नहीं कर पाती। यह राग-द्वेष से प्रेरित होकर सत्य को नहीं छोड़ देता। ४. **धरुणश्च**=यह अच्छाइयों को अपने अन्दर धारण करनेवाला बनता है। अच्छाइयों का आधार होता है। ५. **धर्त्ता च**=सब उत्तमताओं का धरुण बनता हुआ यह औरों का भी धारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में लोकहित की भावना कभी नष्ट नहीं हो जाती। ६. **विधर्त्ता च**=(विधृ=to catch; to restrain) अपने जीवन से धर्तृत्व की भावना को नष्ट न होने देने के लिए यह अपनी इन्द्रियों व मन को वश में करता है, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकता है। ७. **विधारयः**=इन्द्रियों व मन को विषयों से रोकने के लिए यह उन्हें विशिष्ट कर्त्तव्यों में धारण किये रखता है। इन्द्रियों व मन के दमन व शमन का सरल व प्रभावशाली प्रकार यही है कि उन्हें सदा विविध यज्ञादि क्रियाओं में व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्राणसाधक का जीवन ऋत व सत्यमय होता है। वह नीति-मार्ग में ध्रुवता से चलता है। अच्छाइयों का धरुण बनता है। सभी का धारण करता है। इन्द्रियों व मन को वशीभूत करता है और इन्हें विविध उत्तम क्रियाओं में लगाये रखता है।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—भुरिगार्ष्युष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

सेनजित्-सुषेण

ऋ॒त॒जिच्च॑ सत्य॒जिच्च॑ सेन॒जिच्च॑ सु॒षे॒णश्च।
अन्ति॑मित्रश्च दू॒रेऽअ॑मित्रश्च ग॒णः॥८३॥

१. यह प्राणसाधक. **ऋतजित् च**=(ऋतेन जयति) ऋत के द्वारा, भौतिक क्रियाओं में अत्यन्त नियमितता के द्वारा रोगों का पराजय करनेवाला तथा स्वास्थ्य का विजय करनेवाला होता है। २. **सत्यजित् च**=(सत्येन जयति) इसी प्रकार अपने सत्य व्यवहार से यह सबके हृदयों को जीतनेवाला होता है। ३. **सेनजित् च**=(सेनां जयति) यह काम, क्रोधादि की सेना को जीतनेवाला होता है (शतसेना अजयत् साकमिन्द्रः) शतशः वासनाओं के बल को यह पराजित करनेवाला होता है और स्वयं ४. **सुषेणः च**='धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य व अक्रोध' आदि उत्तम गुणों की सेनावाला होता है। ५. **अन्तिमित्रश्च**=(मिद्-स्नेहने) सबके साथ स्नेह की भावना इसके हृदय में अन्तिकतम होती है (अन्तौ=समीपे मित्रा यस्य—द०) अथवा 'प्रमीतेः त्रायते'=अपने को पाप से बचाने की भावना इसके समीप होती है, इस भावना को यह विस्मृत नहीं होने देता। ६. **दूरे अमित्रश्च**=अमित्रता व शत्रुता की भावना को यह अपने से दूर रखता है। किसी के प्रति राग-द्वेष को यह अपने में नहीं आने देता। साथ ही पाप की भावना को अपने से परे रखता है। ७. इस प्रकार 'अच्छाई को लेते हुए और बुराई को दूर करते हुए यह **गणः**='गण्यते' प्रभु-भक्तों में गिना जाता है। प्रभु महादेव है, तो यह उनका 'गण' होता है।

भावार्थ—हम ऋत से स्वास्थ्य का विजय करें। सत्य से हृदय की वासना-सैन्य को जीतनेवाले बनें। धृति आदि उत्तम गुणों की सेनावाले हों। स्नेह की भावना हमारे समीप हो और द्वेष की भावना दूर हो। इस प्रकार हम सच्चे प्रभु-भक्तों में परिगणित हों।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृदार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

ईदृक्ष-एतादृक्ष

ई॒दृक्षा॑सऽए॒ता॒दृक्षा॑सऽऊ॒ षु णः॑ स॒दृक्षा॑सः॒ प्रति॑सदृक्षास॒ऽएत॑न मि॒तास॑श्च॒ सम्मि॑तासो नोऽअ॒द्य सभ॑रसो मरुतो य॒ज्ञेऽअ॒स्मिन्॥८४॥

१. ये प्राणसाधक **ईदृक्षासः**=(इदं पश्यन्ति)=इस संसार को देखते हैं। इस संसार को ठीक रूप में देखने के कारण वे संसार को घृणा से देखनेवाले व हर समय घबराये हुए-से नहीं होते। २. **एतादृक्षासः**=(एतान् पश्यन्ति) ये प्राणसाधक इन जीवों को भी ठीक रूप में देखते हैं और उनकी मनोवृत्ति को समझने के कारण इनका व्यवहार सदा ठीक होता है, ये शुष्क वाद-विवादों में नहीं फँस जाते। ३. **सदृक्षासः**=(समानं पश्यन्ति) ये सबको समानरूप में देखते हैं। इनका बर्ताव पक्षपातशून्य होता है, और ४. **प्रतिसदृक्षासः**=उस-उस व्यक्ति के प्रति अनुकूलता से देखनेवाले होते हैं, अर्थात् सबके साथ अनुकूलता-सम्पादन में समर्थ होते हैं। ५. **मितासश्च**=प्रत्येक कार्य में बड़े मपे-तुले कार्योंवाले होते

हैं। ६. **सम्मितासोः**=सम्यक्तया मपे-तुले आहार-विहारवाले होते हैं तथा ७. **सभरसो**=सबके साथ मिलकर खानेवाले होते हैं। ऐसे ये **मरुतः**=मितराविणः=कम बोलनेवाले प्राणसाधक **अद्य**=आज **नः अस्मिन् यज्ञे**=हमारे इस यज्ञ में **उ**=निश्चय में **सु**=उत्तमता में **एतन**=आएँ, प्राप्त हों।

भावार्थ—इस जीवनयज्ञ में हमारा सम्पर्क 'ईदृक्षास, एतादृक्षास, प्रतिसदृक्षास, मित, सम्मित व सभरस्' मरुतों से होगा तो हम भी इस प्रकार के जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—चातुर्मास्या मरुतः। **छन्दः**—स्वराडार्षीगायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्वतवान्-प्रघासी

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च।
क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥८५॥

१. यह प्राणसाधक **स्वतवाँश्च**=(यः स्वं तौति वर्धयति) आत्मशक्ति को बढ़ाता है और (स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य) अपने बलवाला होता है, यह आत्मरक्षा के लिए औरों पर निर्भर नहीं करता। २. **प्रघासी च**=इस शक्ति-सम्पादन के लिए (प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य) उत्तम सात्त्विक शाक, वनस्पति भोजनों को ही खानेवाला बनता है। ३. **सान्तपनश्च**=(सम्यक् शत्रून् तापयति) शक्तिसम्पन्न होकर यह शत्रुओं को तप्त करता है। अथवा उत्तम तप करनेवाला होता है। ४. इस प्रकार तपस्वी बनकर यह **गृहमेधी**=(गृहे मेधः सङ्गमो यस्य) गृह में उत्तम सङ्गमवाला होता है, अर्थात् घर को बड़ा उत्तम बना पाता है। ५. **क्रीडी च**=यह संसार में होनेवाले ऊँच-नीच को क्रीड़ा के स्वभाव में लेनेवाला होता है, उनसे घबराता नहीं। ६. वस्तुतः इसी कारण **शाकी च**=ये कर्म उसकी शक्ति को बढ़ानेवाले होते हैं। ७. शक्तिशाली बनकर यह **उज्जेषी च**=सदा उत्कृष्ट विजय पानेवाला होता है। यह विजय उसके सदाचार का प्रमाण है, और यह विजय ही उसे परमात्मा को प्राप्त करानेवाली होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा बल बढ़ेगा और अन्त में हम विजयी बनेंगे।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—निचृच्छक्वरी। **स्वरः**—धैवतः॥

अनुकूलता

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्।
एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भवन्तु ॥८६॥

१. **इन्द्रम्**=इन्द्र के, **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली विद्वान् प्रजाएँ तथा **मरुतः**=रणाङ्गण में देश के लिए प्राण दे देनेवाले (म्रियन्ते) सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले **अभवन्**=होते हैं। अथर्व के शब्दों में 'तं सभा च समितिश्च सेना च' जो राजा प्रजा का अनुरञ्जन करता है, सभा-समिति के सदस्य तथा सैनिक उसके अनुकूल होते हैं। यहाँ प्रस्तुत मन्त्र में सभा-समिति के सदस्यों को 'दैवीर्विशः' शब्द से स्मरण किया है और सैनिकों को 'मरुतः' शब्द से। राजा के लिए यहाँ 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग है। राजा ने जितेन्द्रिय—इन्द्रियों का अधिष्ठाता होना है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः'=यह जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में स्थापित कर सकता है। ३. इस **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय राजा को **यथा**=जैसे **दैवीः विशः**=दिव्य गुणोंवाली प्रजाएँ तथा **मरुतः**=सैनिक **अनुवर्त्मानः**=अनुकूल मार्गवाले

अभवन्=होते हैं, **एवम्**=इसी प्रकार **इमं यजमानम्**=इस प्राणसाधना के द्वारा यज्ञिय वृत्तिवाले पुरुष को **दैवीः च विशः**=दिव्य गुणोंवाले विद्वान् पुरुष तथा **मानुषीः च**=सामान्य व्यवहारी पुरुष भी **अनुवर्त्मानो भवन्तु**=अनुकूल मार्गवाले हों, अर्थात् इसके प्रति सभी का प्रेम होता है, चाहे विद्वान् हों, चाहे सामान्य व्यक्ति।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा यज्ञिय वृत्ति का विकास करें। जितनी-जितनी हमारी वृत्ति यज्ञिय होगी उतनी-उतनी हमें लोकानुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—सप्त ऋषयः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

समुद्रिय सदन प्रवेश

इमꣳस्तनꣳमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सꣳ जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳसदनमाविशस्व ॥८७॥

१. सब प्रकार की वासनाओं को समाप्त करके तथा यज्ञिय वृत्ति को उत्पन्न करके 'सप्त ऋषयः' को चाहिए कि वे प्रभु की इस वेदवाणी का श्रवण करें। वेदवाणी 'गौ' है। उसका स्तन-पान करना ही ज्ञान प्राप्त करना है। **इमम्**=इस **ऊर्जस्वन्तम्**=उत्तम बल व प्राणशक्ति को देनेवाले **स्तनम्**=स्तन को तू **धय**=पी। 'स्तन-पान करने' का अभिप्राय वेदवाणी का ज्ञान प्राप्त करना है। २. यह वेदज्ञान **अपां प्रपीनम्**=कर्मों का वर्धन करनेवाला है। (प्रपीनं=पूर्णम्) इसमें विविध कर्मों का उपदेश दिया गया है। ३. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सरिरस्य मध्ये**=(इमे वै लोकाः सरिरम्) इन लोकों में अथवा (सरिर=गति) इस सारी सांसारिक क्रिया के बीच में, यज्ञादि कार्यों के मध्य में—**उत्सम्**=इस वेदवाणीरूप ज्ञान के चश्मे का **जुषस्व**=सेवन कर। ४. यह ज्ञान का उत्स=(स्रोत) **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला है। वेद माधुर्य के उपदेश से पूर्ण है। वेद के अनुसार जीव की प्रार्थना है कि **'भूयासं मधुसन्दृशः'**=मैं मिठास-ही-मिठास हो जाऊँ, 'वाचा वदामि मधुमत्'=वाणी से मधुपूर्ण शब्दों को ही बोलूँ। इस प्रकार माधुर्य से परिपूर्ण होकर ५. **अर्वन्**=घोड़े की भाँति अपने कर्त्तव्य-मार्ग को मापनेवाले जीव! अथवा अपने को ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन के लिए प्रणवरूप धनुष का तीर (arrow=अर्वन्) बनानेवाले जीव! तू **समुद्रियम्**=सदा आनन्दमय (समुद्र) प्रभु-सम्बन्धी **सदनम्**=गृह में **आविशस्व**=प्रविष्ट हो। प्रभु तेरा गृह हैं। तूने अन्ततः अपने घर में ही तो पहुँचना है, इस यात्रा में भटक नहीं जाना।

भावार्थ—१. हम वेदवाणीरूप गौ का दूध पीएँ। यह हमें शक्ति देगा। यह हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध देगा। २. माधुर्यमय ज्ञान के स्रोत का सेवन करते हुए हम उस प्रभु में प्रवेश करनेवाले बनें, वे प्रभु तो हमारे 'आनन्दमय सदन' है।

ऋषिः—गृत्समदः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

घृतम्

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतमवस्य धाम।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८॥

१. पिछले मन्त्र में 'प्रभुरूप सदन' में प्रवेश का उल्लेख है। उसी प्रवेश के लिए प्रयत्न करता हुआ 'गृत्समद' ऋषि कहता है कि **घृतं मिमिक्षे**=मैं घृत का सेचन करना चाहता हूँ (मेढुमिच्छति, मिह सेचने)। घृत की दो भावनाएँ हैं (क) **क्षरण**=मल को दूर

करना। (ख) तथा **दीप्ति**=ज्ञान को दीप्त करना। मैं प्रभु-प्राप्ति के लिए शारीरिक मल के क्षरण के द्वारा शरीर के स्वास्थ्य का साधन करता हूँ और अपने मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला बनता हूँ। २. **घृतम् अस्य योनिः**=यह मलक्षरण-जनित स्वास्थ्य तथा ज्ञान की दीप्ति ही इस प्रभु के प्रकाश का उत्पत्ति स्थान है। स्वास्थ्य व ज्ञान ही हममें प्रभु के प्रकाश को प्रकट करते हैं। ३. **घृते श्रितः**=वे प्रभु इस स्वास्थ्य व ज्ञान-दीप्ति में ही आश्रित हैं। अथवा स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति होने पर ही प्रभु सेवित (श्रि सेवायाम्) होते हैं। ४. **उ**= और **घृतम्**=यह स्वास्थ्य दीप्ति व ज्ञान-दीप्ति ही **अस्य** =इस प्रभु का **धाम**=धाम है, निवास है। ५. अतः हे जीव! तू **अनुष्वधम्**=अन्न की अनुकूलता में **आवह** =इस स्वास्थ्य व ज्ञानदीप्ति को धारण कर। 'स्वधा' वह अन्न है, जिसका मूलतत्त्व 'स्व' का धारण है, जिसमें स्वाद आदि को मापक नहीं बनाया गया। उस अन्न का सेवन हमें स्वस्थ भी बनाएगा और ज्ञानदीप्त भी। ६. इस प्रकार यह अन्न हमें प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर ले-चलेगा, अतः इस अन्न से स्वास्थ्य व ज्ञान का वहन करके **मादयस्व** =तू आनन्द का अनुभव कर। ७. हे **वृषभ**=अपने अन्दर स्वास्थ्य व ज्ञान का सेचन करनेवाले, अतएव शक्तिशाली जीव! तू **स्वाहाकृतम्**=स्वाहाकार के द्वारा आहुति दिये गये **हव्यम्**=अदन करने योग्य सात्त्विक पदार्थों को ही **वक्षि**=वहन करता है व चाहता है, अर्थात् तेरा भोजन अत्यन्त सात्त्विक है। इस सात्त्विक भोजन से ही तूने उस स्वास्थ व ज्ञान को सिद्ध किया है जो 'घृत' कहलाता है और प्रभु के प्रकाश का कारण है।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपने स्वास्थ्य व ज्ञान को बढ़ाएँ और प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हों। प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करके हम 'गृणाति माद्यति'=स्तुति करें, प्रसन्न हों और इस मन्त्र के ऋषि 'गृत्समद' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मधुमान् ऊर्मिः

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२॥ऽउदारदुपाꣳशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥८९॥

१. प्रभु को प्राप्त करके हम सब देवों को प्राप्त कर लेते हैं और प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वामदेव' =सुन्दर, दिव्य गुणोंवाले होते हैं। **समुद्रात्**=आनन्दमय प्रभु से **मधुमान्**=माधुर्यवाली **ऊर्मिः**=लहर **उदारत्**=(ऊर्ध्वं आप्नोति) उत्कृष्टता से हमें प्राप्त होती है, अर्थात् हमारा जीवन तरंगित हृदयवाला होता है। हमारे जीवन में उल्लास-ही-उल्लास होता है। २. **उप अंशुना**=उस समीपस्थ प्रभु की ज्ञान-किरणों से यह उपासक **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **समानट्**=(सम् आनट्) सम्यक्तया प्राप्त करनेवाला होता है। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह भौतिक वस्तुओं के पीछे भागता नहीं फिरता, उनके प्रलोभन से यह ऊपर उठ जाता है। यही वस्तुतः 'अमृतत्व' है। ३. **घृतस्य**=उस ज्ञान की दीप्तिवाले प्रभु का **यत्**=जो **गुह्यम्**= गुह्यं भवम्=हृदयरूप गुहा में होनेवाला, अर्थात् हृदय को प्रिय **नाम**=नाम **अस्ति**=है, वह **देवानाम् जिह्वा** =इन देवों की जिह्वा पर सदा निहित होता है। ये अपनी जिह्वा से सदा प्रभु के नाम का स्मरण करते हैं। प्रभु का स्मरण करते हुए सब कर्मों को करते हैं ४. इसीलिए **अमृतस्य नाभिः**=अमृत=मोक्ष का अपने में बन्धन करनेवाले होते हैं (नह बन्धने)। प्रभु का स्मरण व जीवन-संग्राम को जारी रखना, इसे जीवन-सूत्र बनाकर ये मोक्ष को सिद्ध करते

हैं। इनकी जिह्वा पर प्रभु-नाम होता है, हाथों में कर्म। इस समन्वय के कारण इनके कर्म पवित्र होते हैं और इनकी मोक्ष-प्राप्ति का कारण बनते हैं।

भावार्थ—१. प्रभु के प्रकाश में हृदय उल्लासमय होता है। २. प्रभु की समीपता के परिणामस्वरूप ज्ञान की किरणों से द्योतित हृदयवाले असङ्गशस्त्र से इस संसार-वृक्ष को काट पाते हैं। ३. प्रभु का नाम हमारी जिह्वा पर हो, हाथों से कर्म करें, तभी हम मोक्ष प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

चतुःशृङ्गः=गौरः

वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौरऽएतत्॥९०॥

१. वामदेव कहता है कि **वयम्**=हम सब **घृतस्य**=उस ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम**=(प्रिय, गुह्य) नाम का **प्रब्रवाम**=प्रकर्षेण उच्चारण करें। २. **अस्मिन् यज्ञे**=अपने इस जीवन-यज्ञ में **नमोभिः**=नमस् के द्वारा, नम्रता-धारण के द्वारा, **धारयामा**=उस प्रभु को धारण करें। नम्रता हमें प्रभु के अधिक समीप ले-जानेवाली हो। ३. **उप ब्रह्मा**=सदा हमारे समीप रहनेवाला हृदयस्थ प्रजापति, चारों वेदों का निधानभूत, ज्ञानपुञ्ज प्रभु **शस्यमानम्**=शंसन किये जाते हुए उस नाम को **शृणवत्**=सुने, अर्थात् प्रभु हमारी जिह्वा से उच्चरित होते हुए अपने नाम को ही सुने। इस जिह्वा से व्यर्थ के शब्दों व अपशब्दों का कभी उच्चारण न हो। ४. **चतुःशृङ्गः**=चारों वेद जिसके सीङ्गों के समान हैं। सीङ्ग जैसे शत्रुओं को दूर करने के साधन बनते हैं, उसी प्रकार ये वेद भी ज्ञान के द्वारा इसकी वासनाओं को दूर करनेवाले होते हैं। अतएव यह **गौरः**=(वेदविद्यावाचि रमते—द०, गौरवर्णः—उ०) वेदविद्या में रमण करनेवाला शुद्ध हृदय पुरुष **एतत्**=उसके नाम का **अवमीद्**=उद्गिरण करता है, श्वास-प्रश्वास के साथ वायुमण्डल में इस नाम की ध्वनि को ही प्रसारित करता है।

भावार्थ—१. हम निरन्तर प्रभु-नाम स्मरण करें। हमारी वाणी सदा प्रभु के नाम का उच्चारण करे, वह प्रभु हमसे नाम को ही उच्चारण किया जाता हुआ सुने। २. हम 'चतुःशृङ्ग-गौर' बनें। हमारे श्वास-प्रश्वास के साथ प्रभु के नाम का जप हो।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

महादेवः

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२॥ऽआविवेश॥९१॥

१. इस मन्त्र के ऋषि वामदेव के **चत्वारि शृङ्गाः**=चारों वेद शृङ्गस्थानीय होते हैं, उस वेदज्ञान से यह अपने शत्रुओं को दूर करनेवाला होता है। २. शत्रुओं को दूर करनेवाले **अस्य**=इसके **त्रयः पादाः**=तीन विक्रम, क़दम होते हैं। यह पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में तथा द्युलोक से स्वर्ज्योति में पहुँचनेवाला होता है। अथवा यह स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है, 'भूः, भुवः, स्वः' ये ही इसके तीन क़दम हो जाते हैं। ३. **द्वे शीर्षे**=इसके दो मस्तिष्क होते हैं, अर्थात् यह दो बातों को सदा सोचता है (क) प्रकृति का प्रयोग कैसे करना है। (ख) और जीव के साथ कैसे वर्त्तना है। प्रकृति के प्रयोग में यह 'मित' बनता है, जीवों के साथ व्यवहार में यह 'मधुर'

होता है। ४. **सप्त हस्तासः अस्य** =इसके गायत्र्यादि सात छन्द ही हाथ बन जाते हैं, अर्थात् उन छन्दों में प्रतिपादित कर्मों को ही यह हाथों से सदा करनेवाला बनता है। ५. **त्रिधा बद्धः**=यह 'काय, वाणी व मन' तीन स्थानों पर बँधा होता है। शरीर, वाणी तथा मन का संयम करता है। इन तीनों का दमन करनेवाला ही यह 'त्रिदण्डी' कहलाता है। ६. इस दमन व संयम के परिणामरूप यह **वृषभः**=अत्यन्त शक्तिशाली होता है। ७. 'शक्ति का गर्व न हो जाए' इसी लिए **रोरवीति** =निरन्तर प्रभु के नाम का उच्चारण करता है। ८. पवित्र बनता हुआ यह **महोदेवः** =महनीय देव बन जाता है। ९. परन्तु ऐसा बनकर यह मनुष्यों से दूर नहीं भाग खड़ा होता। **मर्त्यान् आविवेश**=मनुष्यसमाज में ही प्रवेश करता है, मनुष्यों में ही रहता है। उनके अज्ञान व दुःखों के दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है।

भावार्थ—हम मन्त्र वर्णित साधना करते हुए 'महोदेव' बनें, लोकहित में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

इन्द्र-सूर्य और वेन

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्रऽएकꣳसूर्यऽएकञ्जजान वेनादेकꣳस्वधया निष्टतक्षुः॥९२॥

१. प्रभु **त्रिधा हितम्**=तीन प्रकार से हमारे हृदयों में निहित होते हैं। जिस समय हम 'शारीरिक स्वास्थ्य, मानस-नैर्मल्य व बौद्धिक ज्ञान-दीप्ति' को धारण करते हैं तब अपने में प्रभु को स्थापित करनेवाले होते हैं। अथवा 'ज्ञान, कर्म व भक्ति' का समन्वय होने पर वे प्रभु हममें निवास करते हैं। उस त्रिधा हित प्रभु को, २. तथा **पणिभिः**=(पण् स्तुतौ) स्तुति करनेवाले उपासकों से **गुह्यमानम्**=(गुह्=to hug, to embrace) आलिङ्गन किये जाते हुए प्रभु को, ३. **देवासः**=देववृत्तिवाले लोग, मानस में दैवी सम्पत्ति का विकास करनेवाले लोग **गवि**=वेदवाणी में **घृतम्**=ज्ञान के पुञ्ज, प्रकाशमय प्रभु को **अन्वविन्दन्**=आत्मस्वरूप के दर्शन के साथ देखते व प्राप्त करते हैं। ४. मन्त्र के प्रारम्भ में 'त्रिधा हितम्' शब्दों से प्रभु को 'त्रिधा हित'=ज्ञान-कर्म व भक्ति से प्राप्य कहा है। इनमें में **एकम्**=एक अर्थात् ज्ञान को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति **जजान**=उत्पन्न करता है। जितेन्द्रिय ही ज्ञानी बन पाता है। ५. **एकम्**=एक को अर्थात् कर्म को **सूर्यः**=सूर्य **जजान**=उत्पन्न करता है। सूर्य निरन्तर चल रहा है 'सरति इति सूर्यः'। निरन्तर चलने से ही वह चमकता भी है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील होता है वह भी सूर्य के व्रत में चलता हुआ सूर्य की भाँति ही चमकता है। इस क्रियाशील में किसी प्रकार की मलिनताएँ उत्पन्न नहीं होतीं। यह प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है। ६. **वेनात्**=(वेनतिः कान्तिकर्मा, कान्तिः=इच्छा) उस प्रभु की प्राप्ति की प्रबल कामना करनेवाले में **एकम्**=एक को, अर्थात् भक्ति की भावना को **स्वधया**=उस अन्न के सेवन से जोकि यज्ञों में विनियुक्त होकर यज्ञशेष के रूप में सेवन किया जा रहा है **निष्टतक्षुः**=नितरां निर्मित करते हैं। अभिप्राय यह है कि भक्ति की भावना तब विकसित होती है। (क) जब हृदय में प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और (ख) स्वधा का सेवन हो। उस अन्न का ही प्रयोग किया जाए जो यज्ञों में विनियुक्त होकर अब यज्ञशेष के रूप में हमारे पास है। यही यज्ञशेष अमृत है। इस अमृत के सेवन करनेवाले देव ही प्रभु को पाया करते हैं।

भावार्थ—हम 'इन्द्र' बनकर ज्ञान का सम्पादन करें, सूर्य-शिष्य बनकर कर्मठ बनें

तथा वेन बनकर स्वधा का सेवन करते हुए भक्ति की भावना को जागरित करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। इसपर चलते हुए ही हम प्रभु का आलिङ्गन करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

हिरण्यय वेतस

एताऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धाराऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्यऽआसाम्॥९३॥

१. **एताः**=ये ज्ञान की धाराएँ **हृद्यात्**=हृदयदेश में निवास करनेवाले **समुद्रात्**=(स-मुद्) उस आनन्दमय प्रभु से **अर्षन्ति**=(उद् गच्छन्ति, rush out) उद्गत होती हैं। जिस समय गत मन्त्र की भावना के अनुसार हम प्रभु का आलिङ्गन कर पाते हैं उस समय इस हृदय में आविर्भूत आनन्दमय प्रभु से हमारे अन्दर ज्ञान का प्रकाश होता है। २. यह ज्ञान का प्रकाश **शतव्रजा**=(शतेन व्रजति) सैकड़ों मार्गों से जानेवाले, अर्थात् सैकड़ों शक्लों में हममें प्रकट होनेवाले **रिपुणा**=काम-क्रोधरूप शत्रु से **नावचक्षे**=(न अपवदितुं शक्यः) नष्ट नहीं किया जा सकता। जब तक ज्ञान क्षीण-सा होता है तब तक काम उसे समाप्त कर देता है, परन्तु ज्योंही ज्ञान प्रबल हुआ, तब यह काम, क्रोधरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालता है। ज्ञानबिन्दु कामाग्नि में भस्मीभूत कर दिया जाता है और ज्ञान-जलधारा कामाग्नि को बुझा देती है। ३.इस कामाग्नि के बुझ जाने पर **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराओं को **अभिचाकशीमि**=मैं अपने सब ओर देखता हूँ— मेरे हृदय में ज्ञान-ही-ज्ञान होता है। ४. **आसाम् मध्ये**=इन ज्ञान की धाराओं के बीच में वह **हिरण्ययः**=ज्योर्तिमय **वेतसः**=(कमनीयः—द०) अति सुन्दर प्रभु हैं। इन ज्ञान-वाणियों में प्रभु का प्रतिपादन है, जिसे कामाग्नि को शान्त करनेवाला ज्ञानी ही समझ पाता है। ५. प्रभु को 'हिरण्यय वेतस्' के रूप में देखनेवाला यह ऋषि स्वयं 'वामदेव' बनता है। प्रभु 'वाम' हैं, 'देव' हैं दिव्य गुण-सम्पन्न हैं। उनका उपासक भी वैसा ही होकर 'वामदेव' हो जाता है।

भावार्थ—१. हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान की धाराएँ उद्गत होती हैं। २. ये कामाग्नि से बुझाई नहीं जा सकतीं। ३. कामाग्नि की शान्ति से ज्ञान की धाराएँ चारों ओर प्रवाहित होती हैं। ४. इन ज्ञान-धाराओं के मध्य में वह कान्त, ज्योर्तिमय रह रहा है, इनसे उस प्रभु का ज्ञान हो जाता है।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञान व वासना विनाश

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एतेऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगाऽइव क्षिपणोरीषमाणाः॥९४॥

१. **अन्तर्हृदा**=हृदय के अन्दर से **मनसा पूयमानाः**=मन से पवित्र की जाती हुई **धेनाः**=ज्ञान की वाणियाँ **सरितः न**=नदियों के समान **सम्यक् स्रवन्ति**=उत्तमता से प्रवाहित होती हैं। जब हृदय निर्मल होता है तब प्रभु के प्रकाश में यह जगमगा उठता है। विचार के द्वारा ये वाणियाँ हमारे जीवन को पवित्र करनेवाली होती हैं। २. **एते**=ये **घृतस्य**=ज्ञान की **ऊर्मयः**=तरंगे **अर्षन्ति**=उद्गत होती हैं और **क्षिपणोः**=व्याध से **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईषमाणाः**=सब बुराइयाँ इस ज्ञानी से दूर भागनेवाली होती हैं। ज्ञान का परिणाम

वासनादहन ही तो है। ज्ञान हुआ और वासना गई।

भावार्थ—हमारे हृदय में ज्ञान की वाणियाँ नदियों के समान प्रवाहित हों। ये मनन द्वारा हमें पवित्र बनानेवाली हों। व्याध से मृगों के समान वासनाएँ हमसे भयभीत होकर दूर भाग जाएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अरुषो न वाजी

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वाः।
घृतस्य धाराऽअरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः॥९५॥

१. **यह्वाः**=महान् **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की धाराएँ इस प्रकार मेरे हृदय में **पतयन्ति**=गति करती हैं **इव**=जैसे **सिन्धोः**=समुद्र की **वातप्रमियः**=(वातेन प्रमीयन्ते कश्यन्ति) वायु से छिन्न-भिन्न की जानेवाली **शूघनासः**=शीघ्र गमनवाली (शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां, हन्=गति) लहरें **प्राध्वने**=(प्रगतोऽध्वनः=प्राध्वनो विषमप्रदेशः) विषम-प्रदेश में गिरती हैं। ज्ञान की धाराएँ मेरे हृदय-समुद्र को निरन्तर तरंगित करनेवाली होती हैं। २. **अरुषः न**=यह ज्ञानी पुरुष (न रुषः अरोषणः) जाति आदि से उत्कृष्ट अरोषण घोड़े की भाँति होता है। उस घोड़े की भाँति यह भी **वाजी**=शक्तिशाली होता है। ३. **काष्ठाः भिन्दन्**=(काष्ठा=आज्यन्त) संग्राम-प्रदेशों का यह विदारण करनेवाला होता है, अर्थात् संग्राम में शत्रुओं का विदारण करके यह अवश्य विजयशील बनता है। ४. इस प्रकार अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करके यह **ऊर्मिभिः पिन्वमानः**=ज्ञान की लहरों से प्रजाओं को सींचता हुआ गति करता है। इसकी जीवन-यात्रा का क्रम यह होता है— यह (क) हृदय-शोधन से ज्ञान प्राप्त करता है। (ख) अरोषण-क्रोधशून्य व शक्तिशाली होता है। (ग) इन्द्रिय-संग्राम में इन्द्रियों को विषयों से बचाता है। (घ) और अपने ज्ञान-जल से औरों को भी सींचता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर अध्यात्म-संग्राम में विजय प्राप्त करें, दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ज्ञानी-क्रियाशील

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासोऽअग्निम्।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः॥९६॥

१. **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ (क) **समनेव योषाः**=समान मनवाली स्त्रियों के समान हैं। जैसे पत्नी यज्ञार्थ पुरुष के साथ सङ्गत होकर उसे अशुभ से निवृत्त करती और शुभ में लगाती है, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणी भी 'अग्नि' के लिए योषा बनती है। यह उसका अशुभ से अमिश्रण करती तथा शुभ के साथ मिश्रण करती है। (ख) **कल्याण्यः**=पाप से पृथक् व पुण्य से सङ्गत करके ये कल्याण करनेवाली हैं। (ग) **स्मयमानासः**=ये हमें सदा विकसित पुण्य की भाँति प्रसन्न करनेवाली हैं। (घ) **समिधः**=ये अग्नि=जीव को ज्ञान-दीप्त करनेवाली है। (इन्ध्=दीप्तौ) २. **नसन्त**=(नस हरणे) ये ज्ञान की धाराएँ सब मलिनताओं का हरण करती हैं और इस अग्नि के जीवन को दीप्त कर देती हैं। ३. **ताः जुषाणः**=इन ज्ञान-वाणियों का प्रेमपूर्वक सेवन करता हुआ यह **जातवेदाः**=उत्पन्न विज्ञानवाला अग्नि **हर्यति**=(हर्य गतौ) गतिशील होता है। ज्ञानी बनकर कर्मनिष्ठ होता है।

उपनिषद् के शब्दों में **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** यह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ पुरुष क्रियावाला बनता है। ज्ञान उसे अधिक क्रियाशील बनानेवाला होता है।

भावार्थ—अग्नि को वे ज्ञान की वाणियाँ प्राप्त होती हैं जो उसका हित चाहती हुई उसे अशुभ से पृथक् और शुभ से संयुक्त करती हैं। उसका कल्याण करती हुई उसके मनःप्रसाद का कारण बनती हैं। उसे ज्ञान-दीप्त करके क्रियाशील बनाती हैं।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

सोमाभिषव-व यज्ञ (ज्ञानोत्पादन व रक्षण)

कन्याऽइव वहतुमेतवाऽउऽअज्यूज्जानाऽअभि चाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धाराऽअभि तत्पवन्ते॥९७॥

१. जैसे **कन्याः**=कुमारियाँ **अञ्जि**=अपने कमनीय रूप को **अञ्जानाः**=प्रकट करती हुई **वहतुम्**=पति को **उ एतवै**=निश्चय से प्राप्त होने के लिए होती हैं, इसी प्रकार ये ज्ञान की वाणियाँ भी अपने प्रकाशमय रूप को प्रकट करती हुई मेरी ओर आती हैं और **अभिचाकशीमि**=मैं इन्हें अपने चारों ओर देखता हूँ। मैं सदा इन ज्ञान की वाणियों से ही घिरा होता हूँ। २. ये **घृतस्य धाराः**=ज्ञान की वाणियाँ **तत् अभि**=उस व्यक्ति की ओर **पवन्ते**=गतिवाली होती हैं **यत्र**=जिस व्यक्ति के जीवन में **सोमः सूयते**=सोम का=वीर्य शक्ति का अभिषव किया जाता है, अर्थात् जो सात्त्विक आहार के सेवन से अपने में सोम का उत्पादन करता है और **यत्र यज्ञः**=जिसके जीवन में यज्ञात्मक कर्मों का प्रचलन होता है। एवं, ज्ञान की वाणियों की प्राप्ति के लिए सोम का उत्पादन व यज्ञमय-जीवन का होना आवश्यक है। सोम की सुरक्षा न होने पर बुद्धिमान्द्य से ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं है और यज्ञों के अभाव में लोभ की वृद्धि होकर उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—१. मैं अपने चारों ओर उस ज्ञान को देखूँ जो मुझमें विद्यमान सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता है। २. इस ज्ञान के उत्पादन के लिए मैं सोम की रक्षा करूँ, और ३. उत्पन्न ज्ञान की रक्षा के लिए यज्ञात्मक जीवनवाला होऊँ।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

गव्य आजि

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते॥९८॥

१. **सुष्टुतिं अभि अर्षत**=तुम उत्तम स्तुति को प्राप्त करनेवाले बनो। प्रभु की उत्तम स्तुति वही है जो श्रव्य न होकर दृश्य है, जिसमें मनुष्य प्राणियों के हित में तत्पर रहता है। २. **गव्यम् आजिम्**=गो-सम्बन्धी संग्राम को प्राप्त होओ। 'गाव इन्द्रियाणि' इन्द्रियों के संग्राम से अभिप्राय यह है कि ये प्रमाथी इन्द्रियाँ सहसा हमारे मनों का हरण करनेवाली होती हैं। हम इन्हें जीतकर मन को स्वायत्त कर सकें। 'मन को इन्द्रियाँ हर ले-जाती हैं' तो हमारा पराजय हो जाता है। हम मन को स्वाधीन कर पाते हैं, तो इन्द्रियों का पराजय व हमारा विजय होता है। ३. **अस्मासु**=हममें स्थित हुए-हुए तुम **भद्रा द्रविणानि**=शुभ धनों को, सुपथ से कमाये गये द्रविण को धारण करो। प्रभु को भूल जाने पर हम अन्याय मार्गों से धनार्जन प्रारम्भ करते हैं। ४. **देवताः**=हे विद्वानो! **नः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे जन्म के

साथ ही उत्पन्न किये गये इस **यज्ञम्**=यज्ञ को **नयत**=सारे जीवन में प्रणीत करनेवाले बनो। यह यज्ञ तुम्हारे जीवन में से कभी विच्छिन्न न हो जाए। ५. ऐसा करने पर **घृतस्य धाराः**=ये ज्ञान की वाणियाँ, जो **मधुमत्**=अत्यन्त माधुर्यवाली हैं, वे **पवन्ते**=तुम्हें प्राप्त होती हैं। संक्षेप में तुम्हें ज्ञान प्राप्त होता है और तुम्हारा जीवन माधुर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम स्तुति करें, इन्द्रिय-संग्राम को जीतें, सुपथ से धनार्जन करें, यज्ञशील हों, माधुर्यमयी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—यज्ञपुरुषः। **छन्दः**—स्वराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु के धाम में

धामन्ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।
अपामनीके समिथे यऽआभृतस्तमश्याम मधुमन्तं तऽऊर्मिम्॥९९॥

१. हे प्रभो! **ते धामन्**=आपके तेज में **विश्वं भुवनम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड **अधि श्रितम्**=अधिश्रित है। वस्तुतः प्रभु ही सर्वाधार हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **आभृतः**=धारण किये जाते हैं। कहाँ? (क) **समुद्रे हृदि अन्तः**=(स+मुद्) प्रसन्नतापूर्ण हृदय के अन्दर। (ख) **आयुषि अन्तः**=(एति इति आयुः) क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति के अन्दर। (ग) **अपाम्**=कर्मों के **अनीके**=बल में। क्रियाशीलता के द्वारा उत्पन्न होनेवाली शक्ति से युक्त पुरुष में। जो भी क्रियाशील होगा वह शक्तिशाली बनेगा और शक्ति-सम्पादन करके वह प्रभु का प्रिय बनेगा। (घ) **समिथे**=संग्राम में। वे प्रभु के अन्दर निवास करते हैं जो इन्द्रियों के साथ संग्राम करके जितेन्द्रिय बनते हैं। एवं, प्रभु की प्राप्ति के लिए 'मानस-प्रसाद, क्रियाशीलता, शक्ति-सम्पादन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं। ३. **तम्**=उस प्रभु को हम **अश्याम**=प्राप्त करें। वस्तुतः मानव-जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिए। मनुष्य योनि के अतिरिक्त किसी और योनि में हम प्रभु को प्राप्त कर ही नहीं सकते। ४. इस प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। यह 'यज्ञ-पुरुष' भी कहलाता है, क्योंकि यह वह पुरुष बना है, जिसने प्रभु के साथ यज=सङ्गतीकरण किया है। ५. उस प्रभु के साथ मेल करके वामदेव कहता है कि मैं **ते**=तेरी **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यपूर्ण **ऊर्मिम्**=ज्ञान तरङ्ग को प्राप्त करूँ। प्रभु को प्राप्त करने पर प्रभु का प्रकाश तो अन्दर प्रवाहित होगा ही।

भावार्थ—१. सारे ब्रह्माण्ड का आधार जो प्रभु है वह प्रसन्न हृदय में, क्रियाशील जीवन में, कर्मों की शक्ति में तथा वासनाओं से किये जानेवाले संग्राम में विजेता में निवास करता है। २. उस प्रभु का निवास-स्थान बनकर मैं ज्ञान की माधुर्यमयी तरङ्गोंवाला बन पाऊँ।

एवं, यह सत्रहवाँ अध्याय 'प्रभु को धारण करने की भावना' पर समाप्त होता है। इस प्रभु को धारण कर लेने पर मैं सब अच्छी बातों को धारण करनेवाला बनता हूँ। क्या सांसारिक उत्तम वस्तुएँ क्या अन्न, फल, धन आदि, क्या भौतिक शरीर से सम्बद्ध शक्ति आदि, मानस सम्बद्ध संकल्पादि और बुद्धि के ज्ञानादि इन सबको मैं प्राप्त करनेवाला बनता हूँ। 'प्रभु को प्राप्त कर लेने पर मैं सारे ब्रह्माण्ड को ही पा लेता हूँ', बस, यही वर्णन अठारहवें अध्याय में विस्तार से प्रारम्भ होता है—

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः सम्पूर्णः॥